इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDC-131
हिंदी साहित्य का इतिहास

खंड

1

हिंदी साहित्य का आरंभ और विकास

इकाई 1

कालविभाजन और नामकरण 7

इकाई 2

आदिकालीन काव्यधाराएँ 26

इकाई 3

भक्ति आंदोलन : परिस्थितियाँ और सामान्य विशेषताएँ 40

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. निर्मला जैन
ए–20/17, डी.एल.एफ. सिटी
फेज–1, गुड़गाँव–122002, हरियाणा

प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी
बी–5, एफ.2, दिलशाद गार्डन, दिल्ली–110095

प्रो. मैनेजर पांडेय
बीडी/8ए, डी.डी.ए. फ्लैट
मुनिरका, नई दिल्ली–110067

प्रो. हरिमोहन शर्मा
184, कादंबरी अपार्टमेंट, सेक्टर–9, रोहिणी,
दिल्ली–110085

प्रो. गोबिंद प्रसाद
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. सत्यकाम, निदेशक
मानविकी विद्यापीठ

प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
प्रो. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक

प्रो. सत्यकाम — इकाई 1

प्रो. सत्यकाम
प्रो. पूरनचंद टंडन
प्रो स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. राजीव कुमार — इकाई 2

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक
प्रो. सत्यकाम
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. राजीव कुमार — इकाई 3

पाठ्यक्रम संयोजन और संपादन
प्रो. सत्यकाम
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

संपादन सहयोग
डॉ. राजीव कुमार
परामर्शदाता, हिंदी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

सचिवालयी सहयोग

श्री शशि रंजन आलोक
सहायक कार्यपालक (डाटा प्रासेसिंग)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

आवरण

सुश्री अरविन्दर चावला
ए.डी.ए. ग्राफिक्स
नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री के. एन. मोहनन
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन), सामग्री निर्माण
एवं वितरण प्रभाग, इग्नू, नई दिल्ली-110068

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन), सामग्री निर्माण
एवं वितरण प्रभाग, इग्नू, नई दिल्ली-110068

सितंबर, 2019
© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019
ISBN : 978-93-89200-18-8
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्र मुद्रण) द्वारा अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली–110068 से अथवा इग्नू की आधिकारिक वेबसाइट www.ignou.ac.in से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से **कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग** द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

कंपोज़िंग एवं लेज़र टाइपसैट– ग्राफिक प्रिंटर्स, 204, पंकज टॉवर, मयूर विहार फेस 1, दिल्ली – 110091

मुद्रक : एस जी प्रिण्ट पैक्स प्रा० लि०, एफ-478, सेक्टर-63, नोएडा-201301, उ०प्र०

पाठ्यक्रम का परिचय

'**हिंदी साहित्य का इतिहास**' आपके बी.ए. हिंदी कार्यक्रम का अनिवार्य पाठ्यक्रम है। इस पाठ्यक्रम में कालक्रमानुसार हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास तथा उनकी पृष्ठभूमि की जानकारी दी जा रही है।

साहित्य अपने भूगोल और समय (देश-काल) के भीतर जनता की स्थिति, आशा-आकांक्षा, उनकी चिंताओं और व्यवहार-प्रणाली के समुच्चय को अभिव्यक्त करता है। यह एक तरह का समानांतर और सांस्कृतिक ऐतिहासिक दस्तावेज भी होता है जिसके माध्यम से हम यह जान पाते हैं कि किसी भी देश-काल विशेष में सत्ता-व्यवस्था अथवा राजनीति के इतर और क्या घट रहा था। किसी भी समय की साहित्यिक प्रवृत्ति उस स्थान विशेष के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा जन-आकांक्षा के अंतर्द्वंद्व से निर्मित होता है। यही वे कारक हैं – जिनके परिवर्तन के साथ साहित्यिक रूझान में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी समय-विशेष के साहित्यिक रूझान की निर्मिति में इन सभी तत्वों की अनिवार्यतः या समान अनुपात में भागीदारी हो। कई बार ये तत्व सम्मिलित रूप से साहित्य को प्रभावित करते हैं तो कई बार किसी एक अथवा कुछ तत्वों की केंद्रीय भूमिका हो जाती है। साहित्य के इतिहास में इन्हीं तत्वों के सापेक्ष में साहित्य के विकास और उसमें आने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को परखा जाता है तथा उनका मूल्यांकन किया जाता है। इसके साथ ही इसमें संवेदना और शिल्प में आने वाले परिवर्तन का रेखांकन भी समाहित होता है।

आज हमारे सामने हिंदी साहित्य के विकास और परिवर्तन का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास है। यह अपने आदिकाल से शुरू कर आधुनिक काल तक पहुँच चुका है। हजार साल के इस कालखंड में इसमें विधागत, संवेदनात्मक तथा शिल्पगत अनेकानेक परिवर्तन हुए हैं। मध्यकाल तक जहाँ साहित्य मुख्यतः पद्य में लिखा जाता था, आधुनिक काल में गद्य के आगमन के साथ इसमें कई विधाओं का विकास हुआ। काव्य का स्वरूप भी बदलता चला गया। आशय यह है कि हिंदी साहित्य के इस लंबे दौर में परिवर्तन और विकास की बहुआयामी स्थिति हमारे सामने है। इस पाठ्यक्रम में आपको इसके बारे विस्तार से जानकारी दी जा रही है।

इस पाठ्यक्रम के चार खंडों में कुल सत्रह इकाइयाँ हैं। प्रथम खंड – **हिंदी साहित्य का आरंभ और विकास**' में कुल तीन इकाइयाँ – 'कालविभाजन और नामकरण', 'आदिकालीन काव्यधाराएँ' तथा 'भक्ति आंदोलन : परिस्थितियाँ और सामान्य विशेषताएँ' हैं। इस खंड में हिंदी साहित्य के आरंभ से लेकर भक्ति साहित्य के आरंभ होने तक की परिस्थितियों तथा आदिकालीन साहित्य की विशेषताओं के बारे में जानकारी दी जा रही है।

इस पाठ्यक्रम का दूसरा खंड – '**भक्ति काव्यधारा**' है जिसके अंतर्गत चार इकाइयों – 'संत काव्यधारा', 'सूफी काव्यधारा', 'कृष्णभक्ति काव्यधारा' तथा 'रामभक्ति काव्यधारा' – के माध्यम से हिंदी के भक्ति-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, उनकी पृष्ठभूमि तथा अलग-अलग काव्यधारा के विकास में योगदान देने वाले कवियों के बारे में जानकारी दी जा रही है।

पाठ्यक्रम के तीसरे खंड – '**रीतिकाव्य और आधुनिक साहित्य का प्रादुर्भाव**' की प्रथम दो इकाइयों – 'रीतिकाव्य : परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ' तथा 'रीतिकाव्य के प्रमुख कवि' – में हिंदी के रीतिकाव्य के विकास की पृष्ठभूमि तथा उसमें योगदान देने वाले कवियों की जानकारी दी जा रही है। इसी खंड की अगली दो इकाइयों – 'भारतेंदु युग' तथा 'द्विवेदी

युग' के माध्यम से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के प्रारंभिक साहित्य के विकास को रेखांकित किया जा रहा है। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग को सम्मिलित रूप से हिंदी में 'नवजागरण काल' भी कहा गया है। आपको इसके बारे में भी जानकारी दी जाएगी।

पाठ्यक्रम का अंतिम खंड '**आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य**' हिंदी की विभिन्न गद्य विधाओं पर केंद्रित है। आधुनिकता के आगमन के साथ ही गद्य भी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बना तथा गद्य की विभिन्न विधाओं का विकास हुआ। इस खंड में कुल छः इकाइयाँ हैं। प्रथम दो इकाइयाँ – 'हिंदी कहानी का विकास –I' तथा 'हिंदी कहानी का विकास – II' कहानी विधा पर और अगली दो इकाइयाँ – 'हिंदी उपन्यास का विकास –I' और 'हिंदी उपन्यास का विकास –II' उपन्यास विधा पर केंद्रित हैं। इस खंड की पाँचवीं इकाई – 'हिंदी नाटक का विकास' में हिंदी में इस विधा के विकास पर प्रकाश डाला गया है। खंड की अंतिम इकाई – 'हिंदी निबंध का विकास' में इस विधा की जानकारी दी जा रही है।

इस प्रकार 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का यह पाठ्यक्रम क्रमबद्ध रूप में हिंदी साहित्य के पूरे विकास को समेटता है। हमें विश्वास है कि आप इसके माध्यम से हिंदी साहित्य के विकास के विविध आयामों को सहज और स्पष्ट तरीके से समझ पाएँगे। इकाइयों में बीच-बीच में बोध प्रश्न दिए गए हैं जिन्हें हल करने से आप स्वयं यह सुनिश्चित कर पाएँगे कि आपने कितना सीखा, कितना छूट गया। जो अंश आप ग्रहण नहीं कर पाते हैं उन्हें पुनः पढ़ें और बोध प्रश्नों का उत्तर दें। आपकी मदद के लिए बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उन्हें हल करने के संकेत दिए गए हैं जिनसे आप बोध प्रश्न हल करने में मदद ले सकते हैं। प्रत्येक इकाई के अंत में कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची भी दी जा रही है। आप आवश्यकतानुरूप इनका उपयोग कर अपने अध्ययन को और व्यापक बना सकते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड परिचय : (खंड 1 – हिंदी साहित्य का आरंभ और विकास)

आपके समक्ष अनिवार्य पाठ्यक्रम – '**हिंदी साहित्य का इतिहास**' का प्रथम खंड – '**हिंदी साहित्य का आरंभ और विकास**' प्रस्तुत है। इस खंड में कुल तीन इकाइयाँ हैं :

इकाई–1 : कालविभाजन और नामकरण

इकाई–2 : आदिकालीन काव्यधाराएँ

इकाई–3 : भक्ति आंदोलन : परिस्थितियाँ और सामान्य विशेषताएँ

हिंदी साहित्य के अब तक के इतिहास में समय-समय पर विभिन्न प्रवृत्तियों के उत्थान और विकास तथा अंततः उनमें ठहराव की स्थिति बनती रही है। यह पूरी प्रक्रिया अचानक से नहीं घटती है। इसके पीछे देश-काल की कुछ निश्चित परिस्थितियों की भूमिका होती है। प्रवृत्तियों के उत्थान और विकास तथा एक निश्चित समय तक उसका बने रहना और तत्पश्चात उसके अवसान की पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए साहित्य का कालविभाजन और उसका नामकरण करना आवश्यक है। इस खंड की प्रथम इकाई में हिंदी साहित्य के कालविभाजन तथा नामकरण के विभिन्न प्रयासों के बारे में जानकारी दी जा रही। साथ ही सर्वस्वीकृत कालविभाजन और नामकरण के बारे में भी बताया जा रहा है।

इस खंड की दूसरी इकाई में आपको उस समय के साहित्य के बारे में जानकारी दी जा रही है जब पहली बार अपभ्रंश से हिंदी भाषा का विकास हुआ। हिंदी साहित्य का आदिकाल विविधताओं से भरा हुआ है। आदिकालीन साहित्य के दौर में रजवाड़े में प्रश्रय पा रहे चारण कवियों ने रासो काव्यों की रचना की वहीं सिद्ध, नाथ तथा जैन कवियों ने स्वतंत्र रूप से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न प्रकार की रचनाएँ की। इसी काल में विद्यापति देसभाषा – मैथिली में पदावली रच रहे थे तो अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी में पहेलियाँ तथा मुकरियाँ बना रहे थे। आदिकालीन साहित्य के इन विविध पहलुओं की जानकारी आप इस इकाई में प्राप्त करेंगे।

भक्तिकाल को हिंदी साहित्य के स्वर्णयुग के रूप में रेखांकित किया जाता है। इस काल में जो साहित्य रचा गया उसका केंद्रीय तत्व ईश्वर अथवा परमात्मा की अराधना है लेकिन इसके साथ ही उसमें जन आकांक्षाओं का स्वर घुला-मिला है। भक्तिकाल के उत्थान के पीछे किन-किन परिस्थितियों की भूमिका है उसके बारे में इस खंड की तीसरी इकाई में आपको जानकारी दी जा रही है। भक्ति आंदोलन एक व्यापक साहित्यिक आंदोलन था। इसमें कई स्वर काल-खंड के थोड़े बहुत अंतर से या फिर समानांतर रूप से सक्रिय थे। उनकी अपनी-अपनी निजी विशिष्टताएँ थीं, परंतु इन निजी विशिष्टताओं से इतर पूरे भक्ति आंदोलन की कुछ सामान्य विशेषताएँ भी थीं। इस इकाई में इस संदर्भ में भी आपको जानकारी दी जा रही है।

आप इन इकाइयों को सिलसिलेबार ढंग से पढ़िए। हर इकाई में बोध प्रश्न भी दिए गए हैं। पाठ पढ़कर उनका उत्तर तैयार कीजिए। आपकी सुविधा के लिए बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा उन्हें हल करने के निर्देश भी दिए गए हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 कालविभाजन और नामकरण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

1.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

1.4 हिंदी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

1.4.1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

1.5 नामकरण संबंधी विभिन्न मत

1.5.1 आदिकाल

1.5.2 भक्तिकाल

1.5.3 रीतिकाल

1.5.4 आधुनिक काल

1.6 आधुनिक युग के विभिन्न कालखंड और उनका नामकरण

1.6.1 भारतेंदु युग

1.6.2 द्विवेदी युग

1.6.3 छायावाद

1.6.4 उत्तर छायावाद

1.6.5 प्रगतिवाद

1.6.6 प्रयोगवाद

1.6.7 नई कविता और उसके बाद

1.7 सारांश

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

यह इस खंड की प्रथम इकाई है। इस इकाई में 'कालविभाजन और नामकरण' की समस्या पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आप :

- हिंदी साहित्य के इतिहास में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- कालविभाजन और नामकरण के आधारों को पहचान सकेंगे;
- हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन की समस्या को रेखांकित कर सकेंगे और
- हिंदी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आपके अनिवार्य पाठ्यक्रम 'हिंदी साहित्य का इतिहास' की यह पहली इकाई है। इस इकाई में हिंदी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण पर विचार किया जा रहा है। हालाँकि कोई भी कालविभाजन अंतिम रूप से किसी भी प्रवृत्ति के उत्थान या पतन का द्योतक नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य में किसी भी प्रवृत्ति की शुरुआत इतिहास के किसी खास बिंदु पर न तो अचानक होती है और न ही किसी निश्चित समय में उसका पूर्ण रूप से अंत होता है। अध्ययन की सुविधा के लिए अतीत को विभिन्न काल खंडों अथवा युगों में बाँट लिया जाता है। इसे कालविभाजन कहा जाता है। फिर अलग-अलग काल को विशेष रूप से निर्णायक प्रवृत्ति, चेतना अथवा व्यक्तित्व के आधार पर नाम दिया जाता है। इसे नामकरण कहते हैं। हिंदी साहित्य के व्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास का भी कालविभाजन और नामकरण किया गया है। इस इकाई में हम यह जानने और समझने का प्रयास करेंगे कि हिंदी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के आधार क्या हैं? क्या इस प्रक्रिया में विद्वानों की सर्वसम्मति है? अगर नहीं तो विभिन्न मत-मतांतरों के पीछे क्या तर्क हैं? और अंततः हम यह भी जानेंगे कि अपेक्षाकृत व्यापक स्वीकृति किसे मिली है।

1.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए कालविभाजन और नामकरण आवश्यक है। साहित्येतिहास भी इसका अपवाद नहीं है। कालविभाजन और नामकरण करने से इतिहास के अध्ययन में एक प्रकार की व्यवस्था आती है। इसके द्वारा हमें प्रवृत्तिगत बदलाव के कारणों को समझने में आसानी होती है। बिना कालविभाजन के इतिहास अव्यवस्थित और दिशाहीन हो जाता है।

कालविभाजन और नामकरण से हमें साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, ऐतिहासिक करकों तथा सामाजिक और वैचारिक बदलाव को समझने में सुविधा होती है। कालविभाजन और नामकरण के सहारे हम इन भिन्नताओं के मूल में प्रवेश करते हैं। इसके द्वारा हम संवेदना और शिल्प में आए परिवर्तनों को तर्कपूर्ण ढंग से तो समझते ही हैं, इससे हमारा रचनात्मक आस्वाद भी निखरता है। कदाचित् यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व के लेखकों – गार्सा-द-तासी, शिवसिंह सेंगर, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन और मिश्र बंधु ने जो हिंदी साहित्य के इतिहास लिखे वे शोध और संदर्भ की दृष्टि से सदा ही महत्वपूर्ण रहेंगे। इन्हीं का उपयोग करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कालविभाजन और नामकरण के आधार निर्मित किए और हिंदी साहित्य का पहला सुव्यवस्थित इतिहास लिखा।

समय बदलने के साथ-साथ युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ भी बदलती हैं। कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता ही इसलिए पड़ी कि विभिन्न युगों में हुए बदलावों को चिह्नित किया जा सके। नामकरण के द्वारा हम प्रमुख अथवा केंद्रीय बदलाव को रेखांकित करते हैं। उदाहरणस्वरूप रीतिकाल में भक्ति, नीति आदि विषयक रचनाएँ भी की जा रही थीं, पर 'रीति' उस काल में सर्वाधिक व्यापकता लिए हुई थी। 'रीति' की बहुलता के कारण ही उस दौर को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी गई। सारतः हम कह सकते हैं कि कालविभाजन और नामकरण से साहित्य के विकास की दिशा, युग की केंद्रीय प्रवृत्ति तथा साहित्य के विभिन्न परिवर्तनों और मोड़ों का पता चलता है।

1.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

अब आपके सामने यह स्पष्ट है कि कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना है। साहित्य की अंतर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, परंपराओं के उत्थान-पतन और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना ही कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य है।

साहित्य का विकास समाज के बीच होता है। समाज में जब कोई बड़ा परिवर्तन आता है, तो साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। आज़ादी से पूर्व जिस तरह के साहित्य की रचना की जा रही थी, आज़ादी के बाद की बदली हुई परिस्थिति में वह संभव नहीं रहा। अगर प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' और रेणु के 'मैला आँचल' को देखें तो समाज और राष्ट्र में खासा मूल्यगत बदलाव दृष्टिगोचर होता है। लेकिन यहीं एक और तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि साहित्येतिहास का कालविभाजन और नामकरण सामाजिक-राजनीतिक इतिहास से प्रभावित होता है पर उसका अनुचर नहीं होता। साहित्य का इतिहास राजनीति के इतिहास के समानांतर नहीं चलता। जब हिंदी साहित्य का आदिकाल था, भारतीय इतिहास में वह मध्यकाल था। अर्थात साहित्य के इतिहास और राजनीति के इतिहास में द्वंद्व भी है और उनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है। राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य में परिवर्तन लाती हैं, पर अनिवार्य रूप से हर बार राजनीतिक कारक ही निर्णायक नहीं होता। उदाहरणस्वरूप रीतिकालीन साहित्य तत्युगीन रजवाड़ों की राजनीतिजनित सांस्कृतिक मानसिकता का परिचय देती है पर अगर हम आदिकालीन सिद्धों-नाथों की रचनाओं को देखें तो वहाँ राजनीति की अपेक्षा सामाजिक-सांस्कृतिक कारक ज्यादा क्रियाशील हैं। भक्तियुग के उत्थान को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बीच हुआ विवाद काफी प्रसिद्ध है। आचार्य शुक्ल ने पश्चिमोत्तर से हुए आक्रमण को भक्ति के उत्थान का प्रमुख कारक माना, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'भारतीय परंपरा का स्वाभाविक विकास' कहा। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य के कालविभाजन के लिए राजनीतिक इतिहास के कालविभाजन को स्थूल रूप से आधार नहीं बनाया जा सकता। अतः राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास का वहीं तक सहारा लिया जाना चाहिए जहाँ तक वह साहित्य की मूल चेतना को प्रभावित करती है। किसी भी ऐतिहासिक दौर में जो राजनीतिक-सांस्कृतिक-आर्थिक गतिविधियाँ चल रही होती हैं साहित्य उसके विरोधाभासों को भी देखता है। उदाहरणार्थ जिस दौर में हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाओं की गहमा-गहमी भरा माहौल था उसी दौर में लिखी गई 'नई कहानी' में उल्लास का स्वर मौजूद नहीं है। अतः साहित्य के कालविभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना होनी चाहिए। प्रवृत्तियों को जब हम राजनीतिक-सामाजिक इतिहास से संबद्ध करके देखते हैं तब प्रवृत्तियों में बदलाव के कारण की जानकारी मिलती है। साहित्य की प्रवृत्ति के निर्माण और बदलाव के लिए विभिन्न तत्व जिम्मेवार होते हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि हर बार वही एक या एकाधिक तत्व साहित्यिक प्रवृत्ति के निर्धारण अथवा बदलाव के मूल में हो। अलग-अलग समय में अलग-अलग कारण प्रवृत्ति-विशेष के उन्मेष के पीछे सक्रिय होते हैं। अतः कालविभाजन और नामकरण का भी कोई रूढ़ आधार नहीं हो सकता। अलग-अलग समय में अलग-अलग परिस्थितियाँ निर्णायक होती हैं। कभी कोई प्रवृत्ति-विशेष अपने पूरे समय में प्रधान हो जाता है तो कभी कोई सांस्कृतिक चेतना। रीतिकाल में काव्य-रचना की प्रवृत्ति विशेष —'रीति' अपने समय में हावी हो गई थी, जबकि भक्तिकाल में 'भक्ति' एक सांस्कृतिक चेतना के रूप में प्रभावशाली थी। 14वीं सदी से 17वीं सदी तक 'भक्ति' की सांस्कृतिक चेतना ने समाज पर व्यापक प्रभाव डाला। भक्तिकाव्य की कई शाखाएँ विकसित

हुईं। इनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ थीं। लेकिन प्रायः हर कहीं पारंपरिक जड़ता और सामंती मूल्यों के प्रति प्रतिरोधी चेतना विकसित हुई। भक्ति के माध्यम से समाज-सुधार, प्रेम-भाईचारे का आह्वान, लोक-जीवन की प्रतिष्ठा के प्रयास हुए। इस कारण इस पूरे युग को 'भक्तिकाल' की संज्ञा से नवाजा गया। इसी तरह ऐसा भी देखा गया है कि किसी समय विशेष में किसी खास व्यक्ति का हस्तक्षेप इतना महत्वपूर्ण और युगांतकारी हो जाता है कि उसका प्रभाव हमें उस दौर की समस्त साहित्यिक गतिविधियों में देखने को मिलती हैं। ऐसे दृष्टातों में युग का नामकरण व्यक्ति के नामों पर भी किया गया है। हिंदी साहित्य में 'भारतेंदु युग' और 'द्विवेदी युग' ऐसे ही उदाहरण हैं। हिंदी साहित्य में कालविभाजन और नामकरण के लिए कभी कालक्रम को आधार बनाया गया है, तो कभी प्रवृत्ति विशेष को। नीचे दी गई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी :

	आधार	कालविभाजन और नामकरण
1.	ऐतिहासिक कालक्रम	आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल
2.	साहित्यकार केंद्रित	भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, प्रेमचंद-प्रसाद युग
3.	राष्ट्रीय-सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना	भक्तिकाल, नवजागरण काल
4.	साहित्यिक प्रवृत्ति	रीतिकाल, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी आदि

आम तौर पर किसी युग विशेष की मूल साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना के अनुसार कालविभाजन और नामकरण का प्रयास किया जाता है, लेकिन ज़रूरी नहीं है कि किसी समय विशेष में एक ही प्रवृत्ति केंद्रीय हो। यह संभव है कि किसी एक समय में एकाधिक प्रवृत्तियाँ समान रूप से महत्वपूर्ण हों। उदाहरणार्थ आदिकाल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' नाम दिया, लेकिन सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य की महत्वपूर्ण उपस्थिति तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा गिनाए गए सभी रासो ग्रंथों की उपलब्धता और प्रमाणिकता सुनिश्चित नहीं होने के कारण 'आदिकाल' ज्यादा स्वीकृत हुआ। दरअसल, किसी समय विशेष में जो तत्व प्रमुखता से साहित्य को प्रभावित करता है, उसे हम उस दौर के नामकरण और कालविभाजन का आधार बनाते हैं।

अतः कालविभाजन और नामकरण करते समय अनेक आधारों का सहारा लेना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण में एकरूपता का आग्रह ठीक नहीं है। कालविभाजन और नामकरण विवेक सम्मत होना चाहिए।

बोध प्रश्न-1

(क) निम्नलिखित प्रश्न के सही उत्तर को चुनकर उनके सामने (✓) का निशान लगाएँ :

इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

(i) अध्ययन की सुविधा के लिए। ( )

(ii) इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए। ( )

(iii) कालविभाजन और नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। ( )

(iv) (i) और (ii) दोनों सही हैं। ( )

(ख) साहित्येतिहास के कालविभाजन और नामकरण के प्रमुख आधार का उल्लेख कीजिए। (एक-दो पंक्ति में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

1.4 हिंदी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

जब हम हिंदी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन पर विचार करते हैं तो हमारे सामने कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

सबसे पहले तो इस बात का निर्णय करना कठिन है कि हिंदी साहित्य का इतिहास कब से आरंभ होता है; क्योंकि इसके बारे में भी विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथ में हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही माना है, परंतु दूसरे इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है कि पुरानी हिंदी का जन्म तो सातवीं शताब्दी के आसपास हो गया था तथा उसमें सिद्धों, जैनियों और नाथपंथियों ने काव्य भी लिखा था, पर उनके काव्य में अपने-अपने धर्म-संप्रदाय की शिक्षाएँ दी गई हैं। इसीलिए उनमें काव्य के गुण कम मिलते हैं। इसलिए आचार्य शुक्ल इन कवियों के द्वारा रचे हुए काव्य को कोरी 'सांप्रदायिक शिक्षा' मानकर उसे काव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका विचार था कि हिंदी का वास्तविक काव्य वह है जो कि विक्रम संवत् 1050 (993 ई.) के बाद से लिखा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार हिंदी साहित्य के इतिहास का आरंभ संवत् 1050 या 993 ई. से ही मानना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा और डॉ. नगेंद्र इसका आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं।

हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, इसके बारे में एक समस्या और भी है। वह है हिंदी भाषा और अपभ्रंश भाषा के पारस्परिक संबंध की। भाषा विज्ञान के विद्वान कहते हैं कि प्राकृत भाषा से अपभ्रंश भाषा का और अपभ्रंश भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं जिनमें हिंदी भी एक है, का विकास हुआ। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा हिंदी का प्रारंभिक रूप है। परंतु कुछ विद्वान अपभ्रंश को हिंदी से अलग न मानकर हिंदी का ही एक रूप मानते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिंदी' (ऐसी हिंदी जिसमें प्राकृत का आभास हो) माना है, तो राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा देते हुए अपभ्रंश के सारे कवियों को हिंदी के कवियों के रूप में स्वीकार किया है। अगर राहुल सांकृत्यायन के मत को स्वीकार कर लेते हैं तो हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही माना जाएगा और उस स्थिति में अपभ्रंश के सबसे पहले कवि सरहपाद ही हिंदी के पहले कवि सिद्ध होते हैं। डॉ. नगेंद्र द्वारा संपादित इतिहास में भी सरहपाद को हिंदी का पहला कवि माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के विद्वानों के मुख्यतः दो वर्ग हैं :

1. एक वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो हिंदी और अपभ्रंश को एक मानते हुए हिंदी का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार करते हैं।

2. दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो कि अपभ्रंश को हिंदी से अलग मानते हुए दसवीं शताब्दी के बाद से हिंदी साहित्य का आरंभ मानते हैं।

परंतु अब इस बात का निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिंदी दोनों एक भाषा नहीं हैं। अपभ्रंश हिंदी के पूर्व की भाषा है। उससे न केवल हिंदी, अपितु भारत की और भी कई अन्य भाषाएँ जैसे पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि विकसित हुई हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस मत का दृढ़ता से खंडन किया है कि हिंदी और अपभ्रंश एक हैं, अस्तु अब भाषा विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र के प्रायः सभी विद्वानों ने यह मत स्वीकार कर लिया है कि अपभ्रंश और हिंदी एक नहीं है, अपितु अलग-अलग भाषाएँ हैं। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिंदी भाषा और साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से हुआ है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य अपभ्रंश से भिन्न भाषा का साहित्य है। वस्तुतः इसमें हिंदी की आधुनिक बोलियों के पूर्वरूप की झलक मिल जाती है। इसी कारण हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य का आरंभ स्वीकार करते हैं।

1.4.1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रथम श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को जाता है। इसके बाद मिश्रबंधुओं, रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के कालविभाजन का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद (डॉ. धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित) और डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने भी कालविभाजन का प्रयत्न किया है। आइए, विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए कालविभाजन पर एक नजर डालें।

जार्ज ग्रियर्सन द्वारा किया गया कालविभाजन

जार्ज ग्रियर्सन ने 1888 ई. में प्रकाशित 'द माडर्न वर्नेक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' में हिंदी साहित्य का कालविभाजन इस प्रकार से किया है :

(क) चारण काल (700 ई. से 1300 ई. तक) (ख) पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता (घ) कृष्ण संप्रदाय (ङ) मुगल दरबार (च) तुलसीदास (छ) प्रेमकाव्य (ज) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (झ) अठारहवीं शताब्दी (ञ) कंपनी के शासन में हिंदुस्तान (ट) विक्टोरिया के शासन में हिंदुस्तान।

जार्ज ग्रियर्सन के कालविभाजन में व्यवस्था का अभाव दिखाई पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि इसमें किसी साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। मुगल दरबार, अठारहवीं शताब्दी, कंपनी के शासन में हिंदुस्तान आदि के आधार पर किया गया विभाजन किसी साहित्यिक परिवर्तन का संकेत नहीं देते।

निश्चय ही, हिंदी साहित्य के कालविभाजन के प्रथम प्रयास के रूप में इसका अपना महत्व है, पर इस कालविभाजन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिश्रबंधुओं द्वारा किया गया कालविभाजन

1. आरंभिक काल : (क) पूर्व आरंभिक काल–सं. 700 से 1343 (643 ई. से 1286 ई.)
   (ख) उत्तर आरंभिक काल–सं. 1344 से 1444 (1287ई. से 1387 ई.)

2. माध्यमिक काल : (क) पूर्व माध्यमिक काल–सं. 1445 से 1560 (1388 ई. से 1503 ई.)
   (ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल–सं. 1561 से 1680 (1504 ई. से 1624 ई.)

3. अलंकृत काल : (क) पूर्व अलंकृत काल–सं. 1681 से 1790 (1624 ई. से 1733 ई.)
   (ख) उत्तर अलंकृत काल–सं. 1791 से 1889 (1734 ई. से 1832 ई.)

4. परिवर्तन काल : सं. 1890 से 1925 (1833 ई. से 1868 ई.)

5. वर्तमान काल : सं. 1926 से आगे (1869 ई. से आगे)

मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' (प्रथम तीन भाग 1913 ई. में तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित) में कालविभाजन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। मिश्रबंधुओं ने व्यवस्था के नाम पर हिंदी के कालखंडों को उप कालखंडों में विभक्त किया है। इससे स्पष्टता आने के बजाय एक भ्रम पैदा हो गया है। सभी कालों को उन्होंने दो उपखंडों में विभक्त किया, जिसका कोई ठोस आधार दिखाई नहीं पड़ता। माध्यमिक काल को दो हिस्सों में बाँटने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि इस काल में एक ही साहित्यिक प्रवृत्ति (भक्ति भावना) की प्रधानता रही। यही बात अलंकृतकाल के लिए भी कही जा सकती है।

इस विभाजन को भी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा (1929 ई. में प्रकाशित हिंदी साहित्य का इतिहास में) किया गया कालविभाजन

1. वीरगाथा काल : सं. 1050 से 1375 (993 ई. से 1318 ई.)

2. भक्ति काल : सं. 1375 ई. से 1700 (1318 से 1643 ई.)

3. रीतिकाल : सं. 1700 से 1900 (1643 ई. से 1843 ई.)

4. आधुनिक काल : सं. 1900 से अब तक (1843 ई. से आगे)

हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया कालविभाजन

1. आदिकाल : सन् 1000 ई. से 1400 ई.

2. पूर्व मध्यकाल : सन् 1400 ई. से 1700 ई.

3. उत्तर मध्यकाल : सन् 1700 ई. से 1900 ई.

4. आधुनिक काल : सन् 1900 से आगे

कालविभाजन के इन सभी प्रयत्नों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत सर्वाधिक मान्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रवृत्तियों को आधार बनाकर कालों का सुव्यवस्थित विभाजन किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रामचंद्र शुक्ल के विभाजन को ही स्वीकार किया है पर संवत् के स्थान पर ईसवी सन् का प्रयोग कर उन्होंने कालविभाजन को और व्यवस्थित कर दिया है। दोनों के कालावधियों में कुछ ही वर्षों का फर्क है। द्विवेदी जी ने पूरी शताब्दी को हिंदी साहित्य के कालविभाजन का आधार बनाया है।

डॉ. धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य सहयोगियों द्वारा संपादित भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में केवल तीन युगों की कल्पना की गई है – आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने भी इसी विभाजन को स्वीकार किया है। उनका मानना है कि मध्यकालीन चेतना कमोबेश एक ही रही है। संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, रीतिकाव्य की धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं। पर यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। यह ठीक है कि संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य आदि धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं, पर सत्रहवीं शताब्दी के आते-आते मुख्य प्रवृत्ति बदल गई थी। भक्ति के स्थान पर अलंकरण और शृंगार विलास की

प्रधानता हो गई थी। काव्य लिखने का ढंग बदल गया था। इससे काव्य की चेतना और काव्य के रूप में भी स्पष्ट अंतर आ गया। अतः मध्यकाल को प्रवृत्तियों के आधार पर दो कालों में विभाजित करना ज़रूरी हो गया।

आधुनिक काल का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। 1857 ई. की क्रांति भारतीय इतिहास की एक बड़ी घटना है। वस्तुतः यह क्रांति मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का उद्घोष है। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से भारतीय जनता का संपर्क और संघर्ष हुआ, फलतः आधुनिक युग का जन्म हुआ। नई वैज्ञानिक तकनीकों के आगमन के कारण गद्य साहित्य का तेजी से विकास हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन अपने नए तेवर के साथ सामने आया। इससे हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ। 1900 ई. से 1920 ई. तक के साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वर उभर कर सामने आया, 1920 ई. से 1936 ई. तक गांधी और रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। हिंदी साहित्य में आदर्शवाद और रोमानीयत का प्रस्फुटन काव्य के माध्यम से हुआ, जिसे 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है। 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद 'प्रगतिवाद' का जोर साहित्य में बढ़ा। इसमें कवियों का समाजवादी रुझान सामने आया। इसके बाद तारसप्तक का प्रकाशन (सन् 1943 ई.) हिंदी साहित्य में एक नए मोड़ के रूप में आया, जिसे प्रयोगवाद के नाम से भी जाना जाता है। प्रयोगवाद के बाद नई कविता और फिर समकालीन कविता का दौर आया। इस दौर में गद्य साहित्य यथा उपन्यास, कहानी, नाटक, यात्रा-वृतांत, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज जैसी विधाओं का विकास हुआ।

हिंदी साहित्य के कालविभाजन को नीचे एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

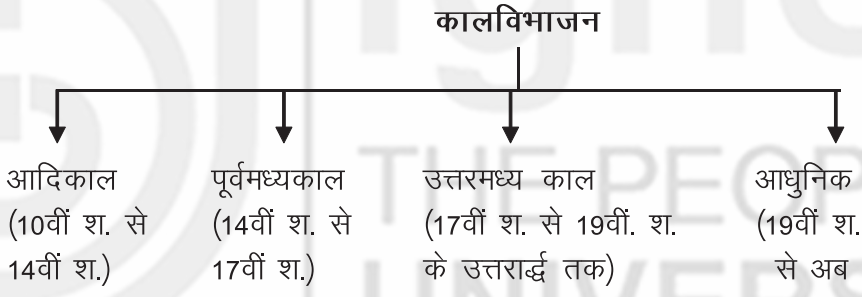

बोध प्रश्न-2

कालविभाजन करते समय इतिहासकार किन-किन बातों का ख्याल रखता है? (उत्तर तीन पंक्तियों में दें।)

.....

.....

.....

1.5 नामकरण संबंधी विभिन्न मत

कालविभाजन के समान कालों के प्रथम नामकरण का श्रेय ग्रियर्सन को है। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने कालों का नामकरण किया, तत्पश्चात् आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने भी नामकरण के प्रयास किए। नीचे अलग-अलग कालों के नामकरण पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

1.5.1 आदिकाल

सबसे पहले 10वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी के कालखंड को लें, जिसमें हिंदी का प्रारंभिक साहित्य लिखा गया। विभिन्न विद्वानों ने इसका नामकरण इस प्रकार किया है :

	इतिहासकार	नामकरण
1.	ग्रियर्सन	चारणकाल
2.	मिश्रबंधु	प्रारंभिक काल
3.	रामचंद्र शुक्ल	वीरगाथा काल
4.	राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध-सामंत युग
5.	महावीरप्रसाद द्विवेदी	बीजवपन काल
6.	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वीर काल
7.	हजारीप्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
8.	रामकुमार वर्मा	संधिकाल और चारणकाल

हिंदी साहित्येतिहास के विभिन्न कालों का नामकरण करने का प्रथम श्रेय ग्रियर्सन को जाता है। उन्होंने हिंदी साहित्येतिहास के आरंभिक काल का चारण काल के रूप में नामकरण किया; पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं उपस्थित कर पाए। वे हिंदी साहित्य के इतिहास की शुरुआत 643 ई. से करते हैं, पर उस समय की किसी चारण रचना या चारण प्रवृत्ति का उल्लेख वे नहीं कर सके हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्येतिहास के इस कालखंड का नाम वीरगाथा काल रखा। वीरगाथा काल नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं :

''आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है– धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परंपरा 'रासो' के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।'' आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का विवेचन तथा नामकरण किया, वे इस प्रकार हैं :

1.	विजयपाल रासो	2.	हम्मीर रासो
3.	कीर्तिलता	4.	कीर्तिपताका
5.	खुमान रासो	6.	बीसलदेव रासो
7.	पृथ्वीराज रासो	8.	जयचंद्र प्रकाश
9.	जयमयंक जसचंद्रिका	10.	परमाल रासो
11.	खुसरो की पहेलियाँ और	12.	विद्यापति पदावली

वे लिखते हैं कि ''इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है।''

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन और नामकरण किया है उनमें से कई बाद की रचनाएँ हैं और कई की नोटिस मात्र हैं और कई पुस्तकों के बारे में यह कहना मुश्किल है कि उनका मूल रूप क्या था। मसलन नए शोधों के आधार पर 'खुमान रासो' और 'बीसलदेव रासो' को 16वीं शताब्दी में रचित माना गया है। 'हम्मीर रासो' को नोटिस मात्र समझा जा सकता है; अर्थात यह ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, इसकी सूचना दूसरे ग्रंथों में मिलती है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' को अर्ध-प्रमाणिक रचना मान लिया गया है। अतः केवल इन पुस्तकों के आधार पर वीरगाथा काल नाम दे देना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस काल में वीरकाव्य ही नहीं लिखे गए, बल्कि धार्मिक, शृंगारिक और लौकिक साहित्य की भी रचना हुई। 'वीरगाथा काल' नामकरण के कारण इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है।

राहुल सांकृत्यायन ने विवेच्य काल को 'सिद्ध सामंत काल' कहा है। यह नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है : सिद्ध और सामंत। सिद्ध जहाँ रचनाकार थे, वहीं सामंत रचना-प्रेरक। राहुल जी ने जो यह संयोग बनाया है, वह भी तर्कसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यह कई अन्य प्रवृत्तियों को नजरअंदाज कर देता है। नाथपंथी और हठयोगी कवियों तथा खुसरों आदि की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। इसलिए यह नाम भी मान्य नहीं है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया नाम 'वीरकाल' शुक्ल जी के नामकरण का रूपांतर हैं। इसमें कोई मौलिकता नहीं है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के काल खंड को 'आदिकाल' कहना पसंद करते हैं। उन्होंने 'आदिकाल' के अंतर्गत धार्मिक रचनाओं का भी समावेश किया है। उनका तर्क है कि यदि इस काल की धार्मिक रचनाओं को साहित्य का अंग न माना गया तो भक्तिकाल की संपूर्ण संपदा से हमें हाथ धोना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस समय और भी कई प्रवृत्तियों का जन्म और विकास हो रहा था, जैसे शृंगार काव्य, लौकिक काव्य आदि। वीरगाथात्मक काव्य से अलग काव्य प्रवृत्तियाँ भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है, अतः 'आदिकाल' का नामकरण करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'आदिकाल' को दो खंडों में विभाजित कर दिया है– संधिकाल और चारणकाल। संधिकाल भाषा की ओर संकेत करता है और चारणकाल से एक वर्ग विशेष का बोध होता है। इस नामकरण की कमजोरी यह है कि इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। अतः यह नामकरण भी विद्वानों के बीच मान्य नहीं है।

वस्तुतः 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है, जिस पर इतिहासकार किसी न किसी रूप में सहमत हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे आने वाले साहित्य का विशाल स्वरूप आधारित है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल में हिंदी के आदिरूप की झलक पाते हैं, इसके अतिरिक्त हिंदी साहित्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज की खोज इस काल में की जा सकती है। परवर्ती साहित्य की विभिन्न शैलियों और काव्य रूपों का आदि रूप भी इस काल के साहित्य में प्राप्त हो जाता है। इस काल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता आदि प्रवृत्तियों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ। अतः आदिकाल सर्वाधिक उपयुक्त और व्यापक नाम है।

1.5.2 भक्तिकाल

चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक (1318 ई. से 1643 ई.) के कालखंड को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'भक्तिकाल' के नाम से जाना जाता है। हिंदी साहित्य के इस काल खंड के नामकरण का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। कुछ विद्वान इस कालखंड को 'पूर्व मध्यकाल' कहने के पक्ष में भी हैं। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में ये दोनों नाम एक साथ चलते हैं, पर 'भक्तिकाल' नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है जो इस काल में सर्वाधिक प्रबल थी। 'पूर्व मध्यकाल' कहने से यह पता नहीं चलता है कि उस कालविशेष में किस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था, उस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति क्या थी? अगर आदिकाल के समान इस काल में भी कोई प्रवृत्ति प्रमुख न होती, तो 'पूर्व मध्यकाल' नाम से काम चलाया जा सकता था। पर इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति 'भक्ति' बिल्कुल स्पष्ट है।

1.5.3 रीतिकाल

हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का समय 1643 ई. से 1843 ई. तक फैला हुआ है। इस काल के नामकरण पर भी विद्वानों के बीच मतभेद है। मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, रामचंद्र शुक्ल ने 'रीतिकाल', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'कला काल' और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' की संज्ञा दी है।

डॉ. ग्रियर्सन ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को 'दि आर्स पोयटिका' की संज्ञा दी है। लैटिन भाषा में इस शब्द का अर्थ 'काव्य-कला' होता है। ग्रियर्सन ने हिंदी रीति परंपरा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की शृंगारिक और काव्य कला से संपृक्त रचनाओं के आधार पर ही इसे 'काव्य-कला युग' कहना सही समझा होगा; पर इस नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया है।

मिश्रबंधुओं ने विवेच्य काल को 'अलंकृत काल' कहा है। पर 'अलंकृत काल' नाम को स्वीकार कर लेने से इस युग की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार और शास्त्रीयता की पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवियों की प्रवृत्ति केवल अलंकार युक्त रचनाएँ करने की नहीं थी, उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं कि मिश्रबंधुओं ने यहाँ 'अलंकार' शब्द का प्रयोग काव्य निरूपण प्रवृत्ति के लिए किया है। पर मिश्रबंधुओं ने 'अलंकृत' शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है न कि रीति के लिए और दूसरी बात यह है कि इस काल तक आते-आते अलंकार एक काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ हो चुका था।

हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कहा है। इस नाम को सभी विद्वानों ने लगभग एकमत से स्वीकार किया है। रामचंद्र शुक्ल की 'रीति' वामन की 'रीति' से भिन्न है। वामन ने जहाँ इसे 'विशिष्ट पद रचना शैली' कहा, आचार्य शुक्ल ने इसका प्रयोग तत्कालीन लिखित लक्षण ग्रंथों के लिए किया। आचार्य शुक्ल ने वामन की 'रीति' के कुछ अंशों को ग्रहण करते हुए भी रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। इसलिए उनके अनुसार जिसने लक्षण ग्रंथों की रचना की हो, वही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो उसे भी रीति काव्य के अंतर्गत रखा जा सकता है।

इस काल में अनेक लक्षण ग्रंथ लिखे गए। सभी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इसी ढर्रे पर रचना की है। लगभग सभी कवियों की रचना रीतिबद्ध थी, घनानंद आदि कुछ रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर। अतः आचार्य शुक्ल को 'रीतिकाल' नामकरण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को 'कला काल' का नाम दिया। रसाल जी द्वारा दिए गए इस नाम से स्पष्ट है कि वे ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं द्वारा दिए गए नामों की सीमा से आगे नहीं बढ़ सके। वस्तुतः 'कला काल' से रीतिकाल के काव्य के बहिरंग पक्ष का ही स्वरूप स्थिर हो पाता है और उससे उस युग की व्यापक शृंगारिक चेतना की प्रायः अवमानना हो जाती है।

पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस काल को 'शृंगार काल' कहना अधिक उपयुक्त समझा। उनके विचार से 'रीति' शब्द काव्य के बहिरंग का बोधक है; रीतिकाव्य की आत्मा शृंगार है जिसका प्रवाह 17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी तक होता रहा। रीतिकाल में अन्य प्रवृत्तियाँ भी सामने आयीं पर शृंगार के समक्ष टिक न सकीं। बोलबाला शृंगार का ही रहा।

वस्तुतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीतिग्रंथों का ही बोलबाला रहा। इस काल की रचनाओं में यदि शृंगारिक छंदों का समावेश हुआ, तो उसका मुख्य कारण इसकी शृंगारिक प्रवृत्ति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रूढ़ विषय को सरस बनाने का प्रयत्न ही कहना चाहिए। यदि कवि शृंगार वर्णन को ही उद्देश्य समझते, तो लक्षण के बंधनों में अपनी रचनाओं को उलझाकर कहीं-कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते। विवेच्य काल के लिए दो ही नाम उपयुक्त जँचते हैं– (i) रीतिकाल, और (ii) शृंगार काल। प्रवृत्ति की दृष्टि से 'रीतिकाल' और विषय की दृष्टि से 'शृंगार काल'। आचार्य शुक्ल ने भी 'शृंगारकाल' नामकरण के संदर्भ में विशेष आपत्ति नहीं उठाई है। पर समग्रता की दृष्टि से 'रीतिकाल' 'शृंगारकाल' की अपेक्षा अधिक सटीक लगता है और विद्वानों के बीच यह मान्य भी हुआ है।

1.5.4 आधुनिक काल

आधुनिक युग और नवजागरण की चेतना

परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कुछ प्रवृत्तियाँ प्रमुखता से उभर आती हैं। समय-विशेष के आर्थिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक रूपों पर उसके चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं तब उसे युग-विशेष की प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया जाता है। साहित्य में भी ऐसा ही होता है। इसी कारण से साहित्य में कालविभाजन की सीमा-रेखा दृढ़ नहीं हो सकती। वह हमेशा लचीली होती है। रीतिकाल की कुछ प्रवृत्तियाँ हमें 'भक्तिकाल' में ही दिखाई देने लगती हैं। केशवदास का रचनाकाल भक्तिकाव्य का दौर है, पर उनमें 'रीतिकाल' की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से मौजूद है। रीतिकाल में मौजूद घनानंद की प्रेम-अभिव्यंजना में आधुनिक युग-सा परिष्कार है।

हिंदी साहित्य में रीतिकाल के बाद 'आधुनिक काल' आता है। इसका उत्थान कब से माना जाए इस विषय पर विद्वान एक मत नहीं है। इस विषय पर मतभिन्नता के अवलोकन से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि भारतीय सामाजिक परिदृश्य पर आधुनिकता तथा हिंदी साहित्य में आधुनिकता का प्रस्थान एक नहीं है। डॉ. नगेंद्र द्वारा संपादित हिंदी साहित्य का इतिहास में डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है, ''हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ सन् 1857 ई. में हुआ, पर भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरुआत एक शताब्दी पूर्व (1757 ई.)

में तभी हो गई थी, जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में हराया था।'' (संस्करण-2010, पृ. 401) लेकिन इस स्थापना से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता। प्लासी के युद्ध के बाद भी विदेशी शक्तियों के हाथों पराजय का लंबा सिलसिला है। 1757 ई. की प्लासी की लड़ाई के तुरंत बाद कोई सकारात्मक परिवर्तन दिखाई नहीं देता। बच्चन सिंह ने इसी पुस्तक में आगे लिखा है, ''आधुनिक भारत की नींव पर पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। आधुनिकीकरण के संदर्भ में ही उन्होंने 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना की।'' (वही, पृ. 410) दरअसल ब्रह्म समाज की स्थापना ही वह प्रस्थान बिंदु है जहाँ से भारतीय समाज में आधुनिकता और नवजागरण की चेतना विकसित होती है। आगे इस प्रक्रिया को प्रार्थना समाज (केशवचंद्र सेन), रामकृष्ण मिशन (विवेकानंद), आर्यसमाज (दयानंद) आदि संस्थाओं ने तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के मंच से एनी बेसेंट ने गति दी। इन सबके प्रयासों का यह परिणाम निकला कि भारतीय समाज मध्ययुगीन जड़ता के भावबोध से बाहर निकलकर नए तरीके से समाज और राष्ट्र के बारे में सोचना प्रारंभ किया। ब्रह्म समाज ने कर्मकांड, बाह्याडंबर, जातिप्रथा, सती प्रथा का विरोध किया तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया। प्रार्थना समाज से संबद्ध महादेव गोविंद रानाडे ने मनुष्य की समानता पर बल दिया। आर्यसमाज ने वेदों को आधार बनाते हुए नैतिक मूल्यों की जो संहिता बनाई उसमें जाति-भेद, स्त्री-पुरुष असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। इन सब प्रयासों से भारतीय समाज में नवजागरण की स्थिति बनी और आधुनिकता की चेतना विकसित हुई। इसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। मध्यकालीन सामंती मूल्यों से संचालित रीतिकालीन भावबोध अप्रासंगिक हो गया और साहित्य में आधुनिकता की चेतना विकसित हुई।

चूँकि इस दौर में भारत परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था अतः हमारे देश में और उसी के अनुरूप हिंदी साहित्य में परतंत्रता के प्रतिरोध के रूप में राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई। हिंदी साहित्य में आधुनिकता की शुरुआत से लेकर छायावाद के शुरू होने तक नवजागरण जनित सुधार-प्रयास और राष्ट्रीय चेतना की उपस्थिति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। चाहे भारतेंदु के साहित्य में धन की लूट हो या मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में देश की और नारियों की स्थिति के प्रति विकलता का भाव, यह सब नवजागरण की भी प्रमुख चिंताएँ थीं। इसलिए इस पूरे दौर के साहित्य को नवजागरणकालीन साहित्य कहा गया। हालाँकि यह पूरा दौर एक-सा नहीं है। साहित्यिक रूझान की दृष्टि से इसमें दो अलग-अलग प्रस्थान बिंदु हैं। इसीलिए नवजागरण कालीन साहित्य को भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में बाँटा गया है।

जहाँ तक हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत का प्रश्न है उसे लेकर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसकी शुरुआत संवत् 1900 अर्थात 1843 ई. से माना है, लेकिन इसके पीछे कोई तर्क नज़र नहीं आता। 1843 ई. किसी परिवर्तन की सूचना नहीं देता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक काल की शुरुआत 1900 ई. से माना है। अगर आचार्य द्विवेदी का मत स्वीकार करें तो पूरा भारतेंदु काल इससे बाहर हो जाएगा। डॉ. नगेंद्र द्वारा संपादित हिंदी साहित्य का इतिहास में बच्चन सिंह ने 1857 ई. को हिंदी साहित्य का प्रस्थान बिंदु माना है। 1857 ई. भारतीय इतिहास और सामाजिक चेतना का महत्त्वपूर्ण दृष्टांत है, लेकिन हिंदी साहित्य में 1857 ई. के आसपास के वर्षों में नई चेतना की कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं आई। रामविलास शर्मा ने 1868 ई. से आधुनिक साहित्य का प्रारंभ माना है। डॉ. शर्मा का दृष्टिकोण ज्यादा समीचीन है। इसी वर्ष से भारतेंदु ने 'कविवचन सुधा' नामक मासिक पत्रिका का संपादन शुरू किया जो राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक भावबोध का संवाहक बनी।

1.6 आधुनिक युग के विभिन्न कालखंड और उनका नामकरण

1.6.1 भारतेंदु युग

भारतेंदु युग नवजागरणकालीन साहित्य का प्रथम दौर है। जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की कि इस युग की शुरुआत 1868 ई. से माना जाना अधिक समीचीन है। इस युग की अंतिम सीमा के बारे में भी मतभिन्नता है। आचार्य शुक्ल भारतेंदु युग की समाप्ति 1893 ई. में मानते हैं। यह संभव है कि उन्होंने ऐसी प्रस्तावना इसी वर्ष 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना को ध्यान में रखकर किया हो। डॉ. रामविलास शर्मा इस युग की अंतिम सीमा 1900 ई. मानते हैं। यह ज्यादा सही प्रतीत होता है क्योंकि भले ही 1885 ई. में भारतेंदु की मृत्यु हो गई लेकिन अभी उनके नेतृत्व में विकसित प्रवृत्ति सक्रिय थी तथा किसी नई प्रवृत्ति का उन्मेष नहीं हुआ था।

जहाँ तक नामकरण का प्रश्न है इसे लेकर किसी प्रकार की मतभिन्नता नहीं है। हिंदी साहित्य को पहली बार राष्ट्रीय चेतना और आम जनता से जोड़ने की भारतेंदु हरिश्चंद्र की पहल को सबने स्वीकारा है। उन्होंने नाटक, प्रहसन, मुक्तक विधा को समाज और राष्ट्र से जोड़कर प्रस्तुत करने की शैली अपनाई, इस राह का अनुसरण उस समय के प्रायः सभी प्रमुख साहित्यकारों ने किया। स्वयं भारतेंदु के अतिरिक्त इस दौर में सक्रिय प्रमुख रचनाकार थे– प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, लाल श्रीनिवास दास आदि।

1.6.2 द्विवेदी युग

इस युग की शुरुआत 1900 ई. के आसपास होती है। मुकम्मल रूप से 1903 ई. से जब महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन संभाला और 'सरस्वती' के माध्यम से, इस युग की सभी विशेषताएँ सामने आने लगीं। भारतेंदु युग में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था पर उसका रूप स्थिर नहीं था। यह कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुशल संपादन में हुआ। उन्होंने भाषा का परिष्कार कर उसे मानक रूप दिया। उन्होंने कविता को राष्ट्रीयता की भावना से जोड़ने पर बल दिया। इस दौर में भारतेंदु युगीन व्यंग्य की बजाए सीधी और सरल भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। स्त्री की समस्या और किसान जीवन की समस्या का चित्रण पहली बार प्रमुखता से हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदी का योगदान इतना महत्वपूर्ण रहा है कि सबने एक स्वर से इसकी प्रशंसा की है। द्विवेदी युग के नामकरण के संबंध में कोई विवाद नहीं रहा है। इस युग के रचनाकारों में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम शर्मा शंकर, श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं.चंद्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्ण सिंह, बाबू श्यामसुंदर दास, बाल मुकुंद गुप्त आदि प्रमुख थे।

1.6.3 छायावाद

द्विवेदी युग के बाद हिंदी साहित्य में छायावाद युग आता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता के तृतीय उत्थान के रूप में इस प्रवृत्ति की शुरुआत संवत् 1875 अर्थात 1918 ई. से माना है। रामचंद्र शुक्ल का मत प्रायः स्वीकृत है। इसकी अंतिम सीमा 1936 ई. मानी जाती है। 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तथा इसके साथ ही साहित्य में नई प्रवृत्ति का उभार हुआ।

छायावाद एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति है। नामवर सिंह के अनुसार, ''छायावाद विशेष रूप से हिंदी साहित्य के 'रोमांटिक' उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ईसवी सन् 1918 से '36 ('उच्छावास' से 'युगांत') तक की प्रमुख युगवाणी रही, जिसमें प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, प्रभृति मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से 'भावोच्छवास-प्रेरित स्वच्छंद कल्पना-वैभव की वह स्वच्छंद प्रवृत्ति है जो देश-काल-गत वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिंदी साहित्य में छायावाद पड़ा।''

छायावाद का नामकरण कैसे हुआ, इस विषय पर विद्वान एकमत नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना था कि बंगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को 'छायावाद' कहा जाता था, जिसके अनुसरण में हिंदी में यह नाम चल पड़ा। मुकुटधर पांडेय ने जबलपुर से प्रकाशित 'श्री शारदा' नामक पत्रिका के जुलाई से नवंबर, 1920 के चार अंकों में 'हिंदी में छायावाद' शीर्षक से चार लेख लिखा था। इससे यह स्पष्ट होता है कि 1920 ई. तक यह नाम प्रचलन में आ गया था।

1.6.4 उत्तर छायावाद

यद्यपि छायावाद की रचना सीमा 1936 ई. तक मानी गई है। लेकिन 1930–31 ई. के आसपास छायावाद के समानांतर कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ मुखरता के साथ उभरीं। इनमें हरिवंश राय बच्चन, नरेंद्र शर्मा आदि की प्रेम और मस्ती वाली काव्यधारा तथा रामधारी सिंह 'दिनकर', माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा थी। उत्तर-छायावादी कवियों की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक विषयक कविता पूर्ववर्ती कवियों के इन्हीं भावबोध पर लिखी गई कविताओं से भिन्न है। उत्तर-छायावादी दिनकर आदि की कविता ओज और उत्साह से भरी हुई है। हरिवंश राय बच्चन, नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', गोपाल सिंह नेपाली, आरसी प्रसाद सिंह, रामधारी सिंह 'दिनकर', माखन लाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि प्रमुख उत्तर-छायावादी कवि हैं।

1.6.5 प्रगतिवाद

1935 ई. में इ.एम. फोर्स्टर के नेतृत्व में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की स्थापना पेरिस में हुई। इसी से प्रभावित होकर 1935 ई. में ही लंदन में मुल्कराज आनंद तथा सज्जाद जहीर ने 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' बनाने का फैसला लिया। इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ। प्रेमचंद इसके सभापति थे।

'प्रगतिवाद' का उत्प्रेरक तत्व मार्क्सवादी विचारधारा है। मार्क्सवाद पूँजीवादी शक्तियों को शोषक के रूप में चिह्नित करता है, जिसका सर्वहारा (शोषित) से निरंतर संघर्ष चलता रहता है। मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित साहित्य में शोषित-उत्पीड़ित जनता के साथ पक्षधरता व्यक्त की जाती रही है। यह इसका केंद्रीय तत्व है। प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन पर बल दिया गया है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध आदि प्रगतिवाद के प्रमुख कवि हैं।

1.6.6 प्रयोगवाद

1943 ई. में अज्ञेय के संपादन में 'तारसप्तक' कविता संग्रह का प्रकाशन हुआ। प्रयोगवाद का समय इसी के प्रकाशन काल से माना गया है। तार सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने प्रयोग को कविता का मुख्य ध्येय माना। उनके अनुसार, ''... संगृहीत सभी कवि ऐसे होंगे जो कविता

को प्रयोग का विषय मानते हैं – जो ये दावा नहीं करते कि काव्य सत्य उन्होंने पा लिया है – केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।'' 'प्रयोगवाद' का मुख्य जोर बदली हुई परिस्थिति में संप्रेषण की समस्या पर था। प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर व्यक्ति चेतना था। 1950 ई. के आसपास प्रयोगवाद के बीच से 'नई कविता' निकली। 'नई कविता' का स्वर एकांगी नहीं था। इसमें मुक्तिबोध और शमशेर जैसे प्रगतिशील दृष्टिकोण रखने वाले कवि भी थे। रामदरश मिश्र के अनुसार, ''नई कविता में दो तत्त्व प्रमुख हैं– अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक – डॉ. नगेंद्र, पृ. 613)

1.6.7 नई कविता और उसके बाद

'नई कविता' का उभार प्रयोगवाद के अंदर से हुआ। सन् 50 के आसपास 'प्रयोग' की अतिशयता से 'प्रयोगवाद' जिस रूपवाद की ओर बढ़ने लगा था उससे कवियों का मोहभंग होने लगा। 'प्रयोगवाद' ने जिस व्यक्ति चेतना को अपनाया था, उस पर सामाजिक चेतना का दबाव बढ़ने लगा और इनका एक मिला-जुला स्वरूप उभरने लगा। आगे इसके लिए 'नई कविता' नाम चल पड़ा। 'नई कविता' में एक ओर प्रगतिशील धारा के मुक्तिबोध थे तो आधुनिकतावादी दृष्टिकोण के धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही आदि भी थे।

सन् 1962 ई. के बाद हिंदी साहित्य में नई प्रवृत्ति का उभार होता है। इस दौर की कविता में अराजकता और मोहभंग का तीखा स्वर है। इसे 'साठोत्तरी कविता' या 'अकविता' कहा गया। यह प्रवृत्ति कहानी में भी दृष्टिगोचर हुई। कहानी के क्षेत्र में भी कई दौर आए जिन्हें 'नई कहानी', 'साठोत्तरी कहानी', 'अकहानी' आदि नामें से संबोधित किया गया।

'साठोत्तरी' अथवा 'अकविता' का दौर खत्म होने के बाद समकालीन साहित्य का दौर आ जाता है। इस दौर में सांप्रदायिकता का प्रतिरोध, भूमंडलीकरण के बाद उत्पन्न नई चुनौतियों का प्रतिरोध आदि प्रमुख रूझान हैं। इसी दौर में, साहित्य में विमर्श की शुरुआत हुई। इसकी दो कोटि– 'दलित विमर्श' और 'स्त्री विमर्श' ने हमारे साहित्य में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है।

बोध प्रश्न-3

(क) हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाता है? (सही उत्तर के सामने ✓ का चिह्न लगाएँ।)

(i) सातवीं शताब्दी ( )

(ii) आठवीं शताब्दी ( )

(iii) दसवीं शताब्दी ( )

(iv) ग्यारहवीं शताब्दी ( )

(ख) हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले तीन विद्वानों के नाम लिखिए :

(i) .....

(ii) .....

(iii) .....

(ग) हिंदी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किसने किया?

.....

(घ) 'आदिकाल' का नामकरण विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग किया है। सही नाम और विद्वान का मिलान करें।

	विद्वान	**नामकरण**
(i)	जार्ज ग्रियर्सन	सिद्ध सामंतकाल
(ii)	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	चारणकाल
(iii)	हजारीप्रसाद द्विवेदी	वीरगाथा काल
(iv)	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	वीर काल
(v)	राहुल सांकृत्यायन	आदिकाल

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

(iv) ....

(v) ....

(ङ) 'रीतिकाल' के नामकरण विषयक विभिन्न मतों पर विचार कीजिए। (उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

(च) हिंदी साहित्य के कालविभाजन पर टिप्पणी कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(छ) हिंदी साहित्य के कालों के नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कालविभाजन और नामकरण की समस्या के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप बता सकते हैं कि इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता अध्ययन की सुविधा के लिए तो है ही; इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए भी यह जरूरी है।

कालविभाजन और नामकरण करते समय प्रायः साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है। किसी सामान्य प्रवृत्ति के अभाव की स्थिति में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और व्यक्तिपरक आधारों को भी अपनाया जा सकता है। इन आधारों को अपनाकर हिंदी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः चार कालों में विभक्त किया गया है–'आदिकाल', 'भक्तिकाल', 'रीतिकाल' और 'आधुनिक काल'। पुनः आधुनिक काल को 'भारतेंदु युग', 'द्विवेदी युग', 'छायावाद', 'उत्तर छायावाद', 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' तथा 'नई कविता' आदि में बाँटा जाता है। 'नई कविता' के बाद 'साठोत्तरी कविता' और उसके बाद समकालीन कविता का दौर शुरू होता है।

1.8 उपयोगी पुस्तकें

हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली

हिंदी साहित्य का इतिहास – संपादक- डा. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

(क) iv

(ख) कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार काल विशेष की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना होती है।

बोध प्रश्न – 2

कालविभाजन करते समय इतिहासकार बदलती हुई परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखता है। उन कालों का नामकरण वह इस प्रकार करना चाहता है कि काल विशेष की मूल साहित्यिक चेतना और प्रवृत्ति प्रतिबिंबित हो सके।

बोध प्रश्न – 3

(क) iii

(ख) (i) जार्ज ग्रियर्सन

(ii) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(iii) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ग) जार्ज ग्रियर्सन

(घ)

	विद्वान	**नामकरण**
(i)	जार्ज ग्रियर्सन	चारणकाल
(ii)	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वीर काल
(iii)	हजारीप्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
(iv)	रामचंद्र शुक्ल	वीरगाथा काल
(v)	राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंत काल

(ङ.) 'उत्तर मध्यकाल' को 'रीतिकाल' कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे विषय-वस्तु के आधार पर 'शृंगार काल' भी कहते हैं। पर 'रीतिकाल' अधिक मान्य नाम हैं, क्योंकि इस काल में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन एक 'रीति' से अर्थात एक ढंग से किया जाता था। अतः 'रीतिकाल' नाम ही उपयुक्त है।

(च) देखें – भाग 1.4

(छ) देखें – भाग 1.5

इकाई 2 आदिकालीन काव्यधाराएँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पृष्ठभूमि

2.3 काव्य धाराएँ

- 2.3.1 सिद्ध काव्य
- 2.3.2 नाथ काव्य
- 2.3.3 जैन काव्य
- 2.3.4 रासो काव्य
- 2.3.5 लौकिक साहित्य

2.4 सारांश

2.5 उपयोगी पुस्तकें

2.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

यह इस पाठ्यक्रम की दूसरी इकाई है। इस इकाई में आदिकालीन काव्य धाराओं की जानकारी दी जा रही है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि की जानकारी दे सकेंगे;
- हिंदी साहित्य के आदिकाल में लिखी गई रचनाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे;
- आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा
- आदिकाल की प्रमुख विशेषताओं और प्रवृत्तियों की चर्चा कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

किसी भी समय का साहित्य तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों तथा सांस्कृतिक परिवेश से संचालित और निर्मित होता है। साहित्यकार अपने आसपास के जीवन को ही अपने साहित्य में निरुपित करता है। आदिकालीन साहित्य का समय (10वीं से 14वीं शताब्दी) राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय था। इस समय के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा।'' जिस समय को हम हिंदी साहित्य का 'आदिकाल' कहते हैं उसमें तमाम तरह के ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक बदलाव हुए। आदिकालीन साहित्य की संवेदना इन्हीं परिवर्तनों के बीच विकसित हुई। अतः आदिकालीन साहित्य की काव्य प्रवृत्तियों को समझने के लिए उस समय के ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को जानना जरूरी है। आगे इसी दृष्टि से उस समय के इन विविध पहलुओं पर विचार किया जा रहा है।

2.2 पृष्ठभूमि

जिस समय को हम 'आदिकालीन' साहित्य के प्रस्थान के रूप में चिह्नित करते हैं उस समय अर्थात 10वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर भारतीय रजवाड़े परस्पर युद्धरत थे वहीं दूसरी ओर उन्हें पश्चिमोत्तर से होने वाले आक्रमणों से जूझना पड़ रहा था। उस समय का ऐतिहासिक परिदृश्य यही है। लेकिन उस समय के समस्त साहित्यिक रूझान को समझने के लिए हमें ऐतिहासिक परिघटना को थोड़ा पीछे से देखना होगा। 647 ई. में सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत में केंद्रीय सत्ता में बिखराव आ गया। हर्षवर्धन के उत्तराधिकारियों का कन्नौज, जो हर्षवर्धन की राजधानी थी, पर शासन बना रहा लेकिन आगे चलकर तीन मजबूत क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ। ये शक्तियाँ थीं – पूर्व में पाल, दक्षिण में राष्ट्रकूट और पश्चिम में प्रतिहार। इनके आक्रमणों से कन्नौज की शक्ति क्षीण होने लगी। नवीं शताब्दी में प्रतिहारों का कन्नौज पर अधिकार हो गया और आगे लंबे समय तक उनका शासन बना रहा। लेकिन इसी बीच अनेक छोटे-छोटे राजवंशों का उदय हुआ तथा सत्ता प्राप्ति और राज्य-विस्तार के लिए इनमें संघर्ष होता रहा। 1085 ई. के आसपास गहड़वालों का कन्नौज पर शासन हो गया। मध्यदेश पर लंबे समय तक इनका शासन रहा पर साथ ही इन्हें निरंतर पूरब से पालों तथा पश्चिमोत्तर से आने वाले पाठानों-तुर्कों से संघर्ष करना पड़ा। गहड़वालों के पतन के पश्चात फिर उत्तर भारत में कोई बड़ी शक्ति स्थापित नहीं हो सकी। इसके बाद लंबे समय तक उत्तर भारत में अराजकता का माहौल बना रहा।

पश्चिमोत्तर के भारतीय शासकों का मुस्लिम आक्रमणकारियों से संघर्ष 712 ई. के आसपास से होने लगा था। सबसे पहले मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। लेकिन बड़ा हस्तक्षेप तब हुआ जब महमूद गजनवी ने 1001 ई. में हिंदूशाही वंश के जयपाल को हराया। 1000 ई. से 1026 ई. तक गजनवी ने सत्रह बार आक्रमण किए। 1173 ई. में मुहम्मद गोरी ने गजनी का शासन संभाला। इस समय कन्नौज की गद्दी पर जयचंद तथा दिल्ली-अजमेर की गद्दी पर पृथ्वीराज चौहान का शासन था। इनमें आपसी शत्रुता थी। 1192 ई. में तराईन के द्वितीय युद्ध में गोरी ने पृथ्वीराज को हराया और फिर उसने 1194 ई. में चंदावर के युद्ध में गहड़वाल जयचंद को भी हराया। गोरी ने भारत में केंद्रीय सत्ता स्थापित नहीं की। यह तब हुआ जब 1206 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की स्थापना की। इस तरह ऐतिहासिक रूप से यह पूरा दौर राजनीतिक संघर्ष और अशांति का दौर था।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली केंद्रित सल्तनत की 1206 ई. में स्थापना की लेकिन वह कम ही समय तक जीवित रहा। उसके उत्तराधिकारियों में सत्ता के लिए टकराव होता रहा। आगे खिलजी वंश का शासन स्थापित हुआ। दिल्ली सल्तनत के शासकों का भी भारतीय रजवाड़ों से निरंतर संघर्ष होता रहा। सल्तनत काल में खिलजी वंश के बाद तुगलक वंश, सैयद वंश और लोदी वंश का शासन स्थापित हुआ। 1526 ई. में बाबर ने पानीपत की लड़ाई में बहलोल लोदी को हराकर मुगल साम्राज्य की स्थापना की। इसके बाद भारत में लगभग 200 वर्षों तक मुगलों का आधिपत्य रहा।

सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से भी यह दौर तमाम किस्म की हलचलों से भरा था। इस दौर में बौद्ध और जैन धर्म का प्रारंभिक रूप बदलाव की ओर अग्रसर था। अलग-अलग राजवंशों ने अलग-अलग धर्मों को संरक्षण दिया। पूर्व में बंगाल स्थित पालवंश ने बौद्धों को संरक्षण दिया। पश्चिम में गुजरात और मालवा में जैन धर्म को संरक्षण मिला। बंगाल में जब सेन राजाओं का अभ्युदय हुआ तब उन्होंने संस्कृत भाषा और ब्राह्मण धर्म को संरक्षण दिया। बौद्ध और जैन धर्म को प्रबल चुनौती शंकराचार्य से मिली। शंकराचार्य ने ब्राह्मण संस्कृति को एक

तरह से पुनः केंद्रीयता प्रदान की। लेकिन शंकर का प्रभाव तत्कालीन समाज की तथाकथित ऊँची जातियों पर ज्यादा था। इस बीच बौद्ध धर्म हीनयान, महायान, वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान आदि विभिन्न संप्रदायों में विभक्त हो चुका था। सिद्ध कवि बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से निकलें। बौद्ध धर्म की इस शाखा में तांत्रिक क्रियाओं द्वारा सिद्धि प्राप्ति पर जोर था। इस पंथ के उभार के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ले लिखा है, ''हिमालय के पाददेश में कामरूप से लेकर हिंगलाज तक एक प्रकार की यक्ष पूजा दीर्घकाल से प्रचलित थी जो बौद्ध धर्म के पिछले दिनों में बौद्धधर्म को प्रभावित करने में समर्थ हुई और वज्रयान नाम से अभिहित हुई।'' (हिंदी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, प्रथम संस्करण – 1952 ई., पृ. – 40) सिद्ध कवियों ने ऐसी जनता को संबोधित किया जो ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता के दायरे से बाहर थे। इस कारण ब्राह्मण धर्म के बाह्याडंबर का इनके यहाँ तीखा विरोध हुआ।

इस समय शैव मत का भी काफी जोर था। राजपूताने में इस धर्म का काफी प्रभाव था। हिंदी साहित्य के आदिकाल में इनकी हिंदी (या पुरानी हिंदी में) रचनाएँ तो नहीं मिली लेकिन तत्कालीन संस्कृति पर इनका काफी प्रभाव पड़ा। सिद्धों ने ब्राह्मण धर्म के बाह्याडंबर का प्रतिरोध कर प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया था परंतु स्वयं 'पंचमकार' की साधना में रत होकर आडंबरों से घिर गया। नाथपंथी सिद्धों के बीच से ही निकले थे। इन पर शैव धर्म का भी प्रभाव था। सिद्धों से पृथक इन्होंने शुचिता का मार्ग अपनाया। यह दौर एक के बाद एक चलते रहने वाले युद्धों का दौर था। इस परिस्थिति विशेष ने भी तत्कालीन संस्कृति और साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। चारण वर्ग का उभार इसी माहौल में हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''... निरंतर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का अविष्कार।'' (वही, पृ. – 40) इस चारण वर्ग ने हिंदी भाषा को 'रासो' साहित्य दिया।

इसी दौर में पश्चिमोत्तर से इस्लाम धर्म का आगमन हुआ। इसका जो भारतीय संस्कृति से मेल-जोल हुआ उसकी अभिव्यक्ति हम आगे भक्तिकाल में सूफी मत और कबीर के एकेश्वरवाद में देखते हैं।

धर्मों के बीच के आपसी संबंध इस दौर में एक-सा नहीं है। अगर कहीं टकराहट और प्रश्नवाचकता दृष्टिगोचर होती है, जैसे ब्राह्मण धर्म से सिद्धों का, तो दूसरी ओर नाथपंथ और जैन कवियों ने समन्वय को तरजीह दिया। भक्तिकाल के प्रेममार्गी सूफी कवियों ने हिंदी लोक गाथा को अपना आधार बनाया है; उसकी पूर्वपीठिका 'आदिकाल' में जैन कवियों ने निर्मित की थी। जैन कवियों ने राम और कृष्ण की कथा का उपयोग अपने मत के प्रचार के लिए किया। हाँ, यह जरूर है कि इन कथाओं को उन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुरूप परिवर्द्धित किया। अतः कहा जा सकता है कि आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक टकराव और समन्वय की दोहरी स्थिति है और इसी के बीच हिंदी साहित्य का आदि रूप विकसित हो रहा था। आइए, इस दौर की विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्यधाराओं का परिचय प्राप्त करें।

2.3 काव्य धाराएँ

हिंदी साहित्य का जो 'आदिकाल' है वह भारतीय इतिहास का मध्यकाल है। धर्मोन्मुख समाज तथा सामंती सामाजिक संरचना मध्यकालीन जीवन के प्रमुख तत्व हैं। हिंदी का प्रारंभिक साहित्य इन्हीं के बीच से निकला। सिद्ध, नाथ तथा जैन कवि अलग-अलग धार्मिक

दृष्टिकोण के प्रतिनिधि थे, जबकि 'रासो' के कवि विभिन्न राजाओं के दरबारों से जुड़े चारण कवि थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनमें से सिर्फ रासो कवि की रचनाओं को महत्व दिया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सिद्ध, नाथ तथा जैन कवियों की उपेक्षा के पक्षधर नहीं हैं। उनके अनुसार, ''केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें 'भक्ति काव्य' से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है।'' (वही, पृ. – 11) 'प्रधान प्रेरणा' के रूप में 'धर्म साधना' की यह उपस्थिति भक्तिकाल में भी देखी जा सकती है।

सिद्ध और नाथ कवियों की रचनाओं में ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जिन्हें बाद में भक्त कवियों ने अपनाया। सिद्धों द्वारा बाह्याडंबर का विरोध किया गया, इसे कबीर ने भी अपनाया। नाथों की तरह तुलसी का दृष्टिकोण समन्वयकारी है। सूफी कवियों ने जैन कवियों की तरह हिंदू समाज की कथा को आधार के रूप में अपनाया। सिद्धों-नाथों की साधना पद्धति और अभिव्यंजना शैली का कबीर आदि संत कवियों पर काफी प्रभाव है। इस दृष्टि से आदि काव्य के अंतर्गत रासो कवि के साथ सिद्ध, नाथ और जैन कवियों का अध्ययन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस युग में अमीर खुसरो, विद्यापति, धनपाल आदि लौकिक कवि भी हुए। इस काल का जो साहित्य है वह कुछ तो यथारूप मौजूद है और कुछ में तब्दीली होती रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं– (1) राजाश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (2) सुसंगठित धर्म संप्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि की पुस्तकालयों में शरण पाकर और (3) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। राजाश्रय सबसे प्रबल साधन था। धर्मसंप्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है। तीसरे प्रकार की जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं वे बदलती रही हैं। जनता को उनके शुद्ध रूप से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्तन परिवर्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकरूचि के साँचे में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है।'' (वही, पृ. – 25)

आगे आदिकालीन विभिन्न काव्यधाराओं की जानकारी दी जा रही है :

2.3.1 सिद्ध काव्य

सिद्ध संप्रदाय को बौद्ध धर्म की परंपरा का हिंदू धर्म से प्रभावित एक धार्मिक आंदोलन माना जाता है। तांत्रिक क्रियाओं में आस्था तथा मंत्र द्वारा सिद्धि चाहने के कारण इन्हें 'सिद्ध' कहा जाने लगा। इन सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। राहुल सांकृत्यायन ने तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन 84 सिद्धों के नामों का भी उल्लेख किया है जिनमें सरहपा, शबरपा, कण्हपा, लुइपा, डोम्भिपा, कुक्कुरिपा आदि प्रमुख हैं। इन सभी सिद्धों के नाम के आगे लगा 'पा' शब्द सम्मानसूचक शब्द 'पाद' का विकृत रूप है। इनमें से केवल 14 सिद्धों की रचनाएँ ही अभी तक उपलब्ध हैं।

सिद्धों द्वारा जनभाषा में लिखित साहित्य को 'सिद्ध साहित्य' कहा जाता है। यह साहित्य वस्तुतः बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का प्रचार करने हेतु रचा गया था। अनुमानतः इस साहित्य का रचनाकाल सातवीं से तेरहवीं शती के मध्य तक है। इन सिद्ध कवियों की रचनाएँ प्रमुखतः दो काव्य-रूपों में मिलती हैं– 'दोहा कोष' तथा 'चर्यापद'। सिद्धाचार्यों द्वारा लिखित दोहों का संग्रह 'दोहा कोष' के नाम से जाना जाता है तथा उनके द्वारा रचित पद 'चर्यापद' या 'चर्यागीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सिद्ध साहित्य में स्वाभाविक सुख भोगों को स्वीकार करने की बात की गई है तथा गृहस्थ जीवन पर बल दिया गया है। इन्होंने पाखंड तथा बाह्य अनुष्ठानों का विरोध कर अपने शरीर में ही परमात्मा का निवास माना है। सिद्धों के साहित्य में गुरु के विशेष महत्व को प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार शरीर में स्थित ब्रह्म की प्राप्ति गुरु की कृपा के द्वारा ही संभव है, क्योंकि विविध तांत्रिक क्रियाओं और उनके प्रयोगों का विश्लेषण गुरु ही बता सकता है जिसके माध्यम से अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है।

सिद्ध साहित्य की भाषा को अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट माना जाता है। चूँकि इस साहित्य की भाषा को अपभ्रंश तथा हिंदी के संधिकाल की भाषा माना जाता है, अतः इसे 'संधा या संध्या भाषा' का नाम भी दिया गया है।

वस्तुतः सिद्ध कवियों का अभीष्ट काव्य-लेखन नहीं था। वे तो केवल अपने विचारों और सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए जनभाषा में साहित्य रचते थे। इनकी भाषा शैली में जो अक्खड़पन और प्रतीकात्मकता है उसका प्रभाव परवर्ती हिंदी साहित्य पर पड़ा। इन कवियों ने अपनी बात सीधे-सादे ढंग से न कहकर तंत्र-मंत्र के अंतर्गत प्रयोग किए जाने वाले विशिष्ट शब्दों के माध्यम से की है। कबीर आदि संत कवियों में दृष्टव्य यह विशिष्ट शैली तथा अक्खड़पन इन्हीं कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन परवर्ती हिंदी कवियों पर इनके प्रभाव के संबंध में कहते हैं, ''यही कवि हिंदी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा थे। नए-नए छंदों की सृष्टि करना तो इनका अद्‌भुत कृतित्व था। इन्होंने दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि कई सौ छंदों की सृष्टि की, जिन्हें हिंदी कवियों ने बराबर अपनाया है।''

2.3.2 नाथ काव्य

नाथ संप्रदाय को सिद्धों की परंपरा का विकसित रूप माना जाता है। नाथ साहित्य का प्रवर्तक गोरखनाथ को स्वीकार किया जाता है। इस संप्रदाय के रचनाकारों ने सिद्ध साहित्य को और अधिक पल्लवित किया। इनकी साधना सिद्ध साधना से अलग है। नाथ संप्रदाय को अनेक नामों से जाना जाता है जैसे—नाथमत, योगमार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत आदि। नाथ संप्रदाय में 'नाथ' शब्द का अर्थ 'मुक्ति देने वाला' प्रचलित है। नाथों ने अपने साहित्य में स्पष्ट किया है कि यह मुक्ति सांसारिक आकर्षणों और भोग-विलास से है। इस प्रकार नाथ संप्रदाय के योगियों ने निवृत्ति के मार्ग पर जोर दिया तथा उन्होंने गुरु को ही इस मार्ग का मार्गदर्शक माना। उनके साहित्य में विविध साधना द्वारा कुंडलिनी जाग्रत कर परमानंद आदि की क्रिया का विवरण मिलता है। उनके अनुसार गुरु से दीक्षा लेकर उसके उपदेश द्वारा वैराग्य प्राप्त किया जा सकता है। विरागी होने पर शिष्य प्राण साधना के माध्यम से कुंडलिनी जाग्रत कर मन को अंतर्मुखी कर लेता है जिससे उसे अपने भीतर ही परम आनंद की प्राप्ति होती है। इस संप्रदाय में प्राण साधना से पहले इंद्रिय निग्रह पर बल दिया गया है। इंद्रिय निग्रह के अंतर्गत नारी से दूर रहने की प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टव्य है। आगे चलकर भक्तिकाल में कबीर ने भी इसी प्रवृत्ति को अपनाया तथा नारी का विरोध स्पष्ट शब्दों में किया। उनके तथा अन्य संत कवियों के काव्य में दृष्टव्य प्राण साधना, कुंडलिनी जागरण और मन साधना आदि की क्रियाओं का वर्णन भी नाथ योगी कवियों का प्रभाव कहाजा सकता है।

नाथ योगियों की संख्या 9 मानी गई है। इनके नाम—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन हैं। इस संप्रदाय का आचार्य गोरखनाथ को माना जाता है तथा मत्स्येंद्रनाथ उनके गुरु थे। यहाँ हम नाथ संप्रदाय के आचार्य गोरखनाथ का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे आपको उनके द्वारा रचित माने गए प्रमुख नाथ साहित्य की जानकारी प्राप्त होगी।

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) – गोरखनाथ को नाथ संप्रदाय का आचार्य तथा नाथ साहित्य का प्रवर्तक माना गया है। इनके आविर्भाव काल के संबंध में अनेक विद्वानों में मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय 845 ई. माना। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें नवीं शती का तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल इन्हें 13वीं शती का मानते हैं। बाद में विद्वानों द्वारा की गई खोजों के बाद यह माना जाने लगा कि इनका रचनाकाल 13वीं शती ही है।

गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती है परंतु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि विद्वानों ने इनके द्वारा रचित जो ग्रंथ स्वीकार किए हैं उनके नाम हैं– 'सबदी', 'पद', 'प्राण संकली', 'सिष्यादासन' आदि। इन ग्रंथों में संयम, साधना तथा ब्रह्मचर्य पर जोर दिया गया है साथ ही गुरु की महत्ता का बखान भी किया गया है। तांत्रिक विधान की जानकारी भी इनके ग्रंथों में मिलती है। इन्होंने धार्मिक कर्मकांडों तथा अंधविश्वासों का खंडन भी किया है।

बोध प्रश्न-1

(क) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर एक पंक्ति में दीजिए।

(i) सिद्धों की संख्या कितनी मानी गई है?

.....

(ii) 'शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा।' यह कथन किसका है?

.....

(iii) सिद्धों के नाम के अंत में लगे 'पा' का क्या अभिप्राय है?

.....

(iv) नाथ संप्रदाय मे 'नाथ' शब्द का क्या अर्थ है?

.....

(v) आचार्य गोरखनाथ के गुरु कौन थे?

.....

(ख) नाथ साहित्य की प्रमुख विशिष्टताओं का उल्लेख (पाँच पंक्तियों में) कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.3.3 जैन काव्य

जैन धर्म के प्रवर्तक श्री महावीर स्वामी थे। जैन मुनियों ने अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा में किया। यह अपभ्रंश से प्रभावित हिंदी थी। इनकी अधिकांश रचनाएँ धार्मिक हैं जिनमें जैन संप्रदाय की नीतियों का प्रमुख रूप से उल्लेख है। इन कवियों की कृतियाँ रास, फागु, चरित काव्य आदि विविध काव्य रूपों में प्राप्त होती हैं। इन कृतियों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति की

प्रधानता है। चरित काव्यों में प्रसिद्ध पुरुषों की कथा का वर्णन है, परंतु उनमें भी धार्मिक भावनाओं की प्रधानता है। प्रमुख रास काव्यों में प्रेम, विरह तथा युद्ध आदि का वर्णन है। लौकिक काव्य होने पर भी इनमें कहीं-कहीं धार्मिक तत्वों का समावेश हो गया है। कुछ जैन कवियों ने पौराणिक कथाओं के प्रमुख और प्रसिद्ध चरित्रों जैसे राम तथा कृष्ण को अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुरूप ढालकर प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त जैन कवियों ने रहस्यवादी काव्यों की भी सृष्टि की है। वास्तव में इन कृतियों की भाषा ही अधिक शिष्ट और परिनिष्ठित है। इनमें योगीन्दु मुनि रचित 'परमात्म प्रकाश' और 'दोहा पाहुड़' तथा मुनि रामसिंह द्वारा रचित 'पाहुड़दोहा' उल्लेखनीय हैं।

जैन कवियों में रासो काव्यकारों के अतिरिक्त जिन प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है वे स्वयंभू तथा पुष्पदंत हैं। हम इन्हीं दो मुख्य जैन कवियों तथा उनकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख यहाँ करेंगे।

स्वयंभू—इन्हें अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि माना जाता है। अनुमानतः इनका जन्म सातवीं शती में हुआ था। इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ तीन हैं, जिनके नाम— 'रिट्ठणेमि चरिउ' ('अरिष्ट नेमि चरित'), 'पउम चरिउ' ('पद्म चरित') तथा 'स्वयंभू-छंदस' हैं। 'पउम चरिउ' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह जैन रामायण है तथा इसमें राम की कथा है। स्वयंभू ने जैन धर्म की रीति-नीति के अनुसार राम कथा में परिवर्तन किया है। अपनी इस कृति में कवि ने कुछ नवीन प्रसंगों की संरचना भी की है। इन्होंने अपनी इस कृति को पाँच कांडों में विभक्त किया है। इस ग्रंथ में कवि ने प्रकृति-वर्णन, युद्ध -वर्णन आदि का विराट अंकन किया है। इस कृति के काव्य-सौंदर्य के आधार पर ही स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा जाता है। राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू द्वारा रचित इस रामायण को हिंदी का 'सबसे पुराना और उत्तम काव्य' माना है।

पुष्पदंत—पुष्पदंत का आविर्भाव काल दसवीं शती के प्रारंभ में माना जाता है। पहले ये शैव थे परंतु बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ 'तिसट्ठिमहापुरिस गुणलंकार महापुराण' तथा 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) हैं। अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि तथा हिंदी भाषा के विकास में जैन कवियों का उल्लेखनीय स्थान है।

वस्तुतः अपभ्रंश ने हिंदी भाषा की पूर्व-पीठिका के रूप में कार्य किया। हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप को प्रारंभ करने में इस साहित्य का सर्वाधिक योगदान रहा।

बोध प्रश्न-2

(क) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(i) जैन कवियों के ..... में प्रसिद्ध पुरूषों की कथा का वर्णन है।

(ii) 'परमात्म प्रकाश' की रचना ..... ने की।

(iii) कुछ जैन कवियों ने ..... तथा ..... की कथा को अपने धार्मिक सिद्धांत के अनुरूप ढालकर प्रस्तुत किया।

(iv) राहुल सांकृत्यायन ने गोरखनाथ का समय ..... ई. माना है।

(ख) 'पउम चरिउ' की विशिष्टताओं का उल्लेख पाँच पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.3.4 रासो काव्य

आदिकालीन हिंदी साहित्य में रासो साहित्य के अनेक रूपों का परिचय मिलता है। कहीं तो इसमें धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा कहीं वह वीरगाथाओं के रूप में रचित है। यद्यपि कुछ जैन रासो काव्यों में भी चरित नायक के शौर्य और पराक्रम का वर्णन किया गया है परंतु उन कृतियों की समाप्ति अंततः वैराग्य या शांत रस में हुई है। उपर्युक्त दोनों विषयों से अलग हटकर कुछ कवियों ने श्रृंगारपरक रासो काव्य की भी रचना की, जिनकी कथावस्तु प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन पर आधारित है।

रासो काव्य कृतियों के इस वैविध्य को देखते हुए काव्य-विषय की दृष्टि से इन्हें प्रमुखतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) वीरगाथात्मक रासो काव्य

(2) श्रृंगारपरक रासो काव्य

(3) धार्मिक और उपदेशमूलक रासो काव्य

प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन वीरगाथात्मक कृतियों को लिया जाता है जो 'रासो' के नाम से रचित हैं। ये कृतियाँ मूलतः प्रशस्ति प्रधान चरित काव्य हैं। इस वर्ग के कवियों के अंतर्गत उन आश्रित कवियों का उल्लेख किया जाता है जिनका उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र का गान करना तथा उनके शौर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करना था। वीरगाथात्मक रासो काव्य की प्रमुख कृतियाँ – महाकवि चंदवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो', शार्ङ्गधर कृत 'हम्मीर रासो', दलपति विजय कृत 'खुमाण रासो', जगनिक कृत 'परमाल रासो', नल्हसिंह भाट कृत 'विजयपाल रासो' आदि हैं।

द्वितीय वर्ग श्रृंगारपरक रासो काव्यों का है। इस वर्ग के अंतर्गत वे गेय रचनाएँ आती हैं जिनका मूल विषय प्रेम तथा श्रृंगार रहा है। इस वर्ग की प्रमुख रचनाएँ अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित 'मुंज रासो' हैं।

तृतीय वर्ग में मुख्यतः जैन आचार्यों द्वारा रचित 'रासो' कृतियाँ' हैं। इन ग्रंथों में धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा धर्म से संबद्ध नीति और उपदेशों का अंकन है। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली रचनाएँ जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेश रसायन रास', कवि आसगु कृत 'चंदनबाला रास', जिनधर्म सूरि कृत 'स्थूलिभद्र रास', आचार्य शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', विजयसेन कृत 'रेवंतगिरि रास' आदि हैं।

वीरगाथात्मक रासो काव्य

आदिकालीन काव्य की विशेष प्रवृत्ति वीरगाथात्मक थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो इसे प्रधान प्रवृत्ति मान कर इस काल का नामकरण ही 'वीरगाथा काल' किया है। वस्तुतः वीर काव्यों के रचयिता चारण अथवा 'भाट' थे जो किसी राजा विशेष के आश्रित कवि होते थे।

अतः उनकी काव्य रचना का उद्देश्य ही अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र का वर्णन तथा उसके शौर्य और पराक्रम का अन्य राजाओं की तुलना में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करना था। इसी कारण इनके काव्य में काल्पनिक तत्वों का भी समावेश हो गया तथा ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं हो पाई।

इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इसका कारण यह है कि इनमें से कई कृतियाँ तो उपलब्ध ही नहीं है, जैसे – 'हम्मीर रासो' तथा 'परमाल रासो'। 'प्राकृत पैंगलम' में उपस्थित केवल आठ छंदों के आधार पर ही 'हम्मीर रासो' को 'रासो कृति' स्वीकार किया गया। इसी प्रकार 'परमाल रासो' (आल्ह खंड) का प्रकाशन भी आल्हा गायकों द्वारा गाए गए पद्यों के आधार पर किया गया। समय-समय पर विद्वानों ने इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाए हैं। कभी इनके रचनाकाल को लेकर विवाद उठा तो कभी भाषा को। इन विवादों का आधार वैविध्यपूर्ण भाषा तथा ऐतिहासिक तिथियों से मेल न खाती घटनाएँ हैं। यद्यपि ये ग्रंथ पूर्णतया प्रामाणिक तो नहीं कहे जा सकते परंतु इन ग्रंथों के कुछ अंशों को प्रामाणिक तथा कुछ को प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा गया) कहा जा सकता है। इन ग्रंथों की भाषा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों में प्रत्येक काल के अनुसार भाषागत परिवर्तन होते रहे तथा प्रक्षिप्त अंश जुड़ते चले गए।

बोध प्रश्न-3

(क) निम्नलिखित ग्रंथों के रचयिता का नाम बताएँ।

ग्रंथ	रचयिता
(i) खुमाण रासो	.....
(ii) विजयपाल रासो	.....
(iii) पृथ्वीराज रासो	.....
(iv) हम्मीर रासो	.....

(ख) वीरगाथात्मक रासो काव्य का परिचय पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

शृंगारपरक रासो काव्य

अब हम जिन रचनाओं का परिचय देने जा रहे हैं उनमें वीर रस तो है परंतु शृंगार हावी हो गया है। इन ग्रंथों में शृंगार के वियोग तथा संयोग दोनों ही पक्षों का चित्रण हुआ है। इन कृतियों का अंत नायक-नायिका के पुनर्मिलन से हुआ है। इस वर्ग में हम जिन दो प्रमुख कृतियों की चर्चा करेंगे वे हैं – 'संदेश रासक' तथा 'बीसलदेव रासो'। इन रचनाओं की विशेषता यह है कि इन दोनों कृतियों में संदेश परंपरा का निर्वाह किया गया है। यह परंपरा परवर्ती साहित्य में भी न्यूनाधिक रूप से मौजूद है जिनमें जायसी का 'पद्मावत' उल्लेखनीय है। संस्कृत साहित्य में कालिदास ने 'मेघदूतम्' में इसी परंपरा का निर्वाह किया था। आइए हम इन कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करें।

संदेश रासक– 'संदेश रासक' 12वीं शताब्दी में प्रणीत एक अपभ्रंश रचना है। यह ग्रंथ अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) द्वारा रचित है। इसमें 223 पद्य हैं तथा यह तीन प्रक्रमों में विभक्त है।

बीसलदेव रासो– इस कृति के रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल 1155 ई. माना जाता है। इसके चरित नायक विग्रहराज तृतीय हैं।

धार्मिक और उपदेशमूलक रासो काव्य

इस वर्ग के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जो जैन कवियों द्वारा 'रास' या 'रासो' के नाम से लिखे गए हैं। इनकी विषयवस्तु धर्म तथा उपदेश पर आधारित है। यद्यपि इनमें वीर रस का निर्वाह है परंतु इन सभी ग्रंथों का अंत शांत रस में हुआ है जैसे 'उपदेश रसायन रास' (जिनदत्त सूरि) में धर्मोपदेश है। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (शालिभद्र सूरि) में ऋषभदेव के पुत्रों– बाहुबलि तथा भरत – के युद्ध की कथा तथा अंत में बाहुबलि द्वारा वैराग्य लेने की कथा है। इस प्रकार इन ग्रंथों में वीरगाथात्मक रासो काव्य कृतियों के समान वीर रस की प्रधानता नहीं है। इन ग्रंथों के रचयिता का उद्देश्य भी प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य लिखना नहीं है अपितु धर्मोपदेश का कथा के द्वारा प्रतिपादन करना है।

बोध प्रश्न-4

(क) निम्नलिखित कथनों के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का चिह्न लगाएँ।

(i) 'संदेश रासक' के रचयिता नरपति नाल्ह हैं।

(ii) 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल 1155 ई. है।

(iii) 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में ऋषभदेव के दो पुत्रों के बीच हुए युद्धों का वर्णन है।

(iv) 'संदेश रासक' 13 वीं सदी की रचना है।

(v) 'उपदेश रसायन रास' के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं।

(ख) शृंगारपरक रासो काव्य का परिचय पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.3.5 लौकिक साहित्य

इससे पहले हमने जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की है वे विशेष विषयों से संबंद्ध थे। जैसे नाथ, जैन तथा सिद्ध संप्रदाय का साहित्य धार्मिक विषय से तथा चारण कवियों की वीरगाथात्मक कविता लेखन से। इनके अतिरिक्त आदिकाल में एक प्रवृत्ति लौकिक साहित्य की भी थी। इस साहित्य के अंतर्गत जनता के मनोरंजन हेतु अमीर खुसरो द्वारा मुकरियों तथा पहेलियों का सृजन किया गया। दूसरी ओर भक्ति और शृंगार की प्रकृति को लेकर विद्यापति ने साहित्य रचना की। धनपाल नामक जैन कवि ने सामान्य व्यक्ति को काव्य का नायक

बनाकर नवीन प्रवृत्ति का प्रारंभ किया। अब हम इन विशिष्ट कवियों की चर्चा करेंगे तथा उनके साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का आविर्भाव 1255 ई. तथा अनुमानतः उनकी मृत्यु 1325 ई. में हुई। अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था। आदिकाल में खड़ी बोली में काव्य की रचना करने वाले अमीर खुसरो ही सर्वप्रथम कवि थे। उन्हें खड़ी बोली का प्रथम कवि माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। अनेक मसनवियों का प्रणयन इन्होंने फारसी में किया है।

ऐसा माना जाता है कि अमीर खुसरो ने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से बीस या बाईस ग्रंथ ही प्राप्त होते हैं। इनके उपलब्ध ग्रंथों में 'पहेलियाँ', 'मुकरियाँ', 'खालिक बारी', 'दो सुखने', 'गजल' आदि उल्लेखनीय हैं।

विद्यापति

विद्यापति का जन्म 1350 ई. में माना जाता है। इनका निवास स्थान दरभंगा जिले (वर्तमान मधुबनी जिला में) का विसपी ग्राम था। विद्यापति को कृष्णभक्ति काव्य की रचना करने वाला हिंदी का प्रारंभिक कवि स्वीकार किया जाता है। इनके प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह थे तथा बाद में ये मिथिला के महाराजा शिव सिंह के आश्रित कवि हुए। रानी लखिमा देवी भी इनकी विशेष भक्त थीं। विद्यापति ने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना संस्कृत में की। इनके द्वारा संस्कृत में रचित ग्रंथों की संख्या 11 मानी जाती है जिनके नाम हैं–'शैव सर्वस्वसार', 'शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह', 'भूपरिक्रमा', 'पुरुष परीक्षा', 'लिखनावली', 'गंगा वाक्यावली', 'दान वाक्यावली', 'विभाग सार', 'गया पत्रलक', 'वर्ण कृत्य' तथा 'दुर्गा भक्ति तरंगिणी'।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत विद्यापति के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है– 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका' तथा 'पदावली'। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चरितकाव्य है। 'विद्यापति की 'पदावली' एक श्रृंगारिक तथा भक्तिपरक रचना है। उनकी प्रमुख दो कृतियाँ–'कीर्तिलता' तथा 'पदावली' का हिंदी साहित्य में विशेष स्थान है।

धनपाल

धनपाल की 'भविसयत्त कहा' ('भविष्यदत्त कथा') अपभ्रंश में रचित एक कथाकाव्य है। इसमें श्रुत पंचमी के व्रत के महात्म्य का वर्णन है। ये जैन धर्म के दिगंबर संप्रदाय में दीक्षित थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना जाता है।

यह एक प्रबंध-काव्य है। इसकी विषय-वस्तु अत्यंत व्यापक है। इसमें मुख्य कथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं का समावेश भी किया गया है जिनका कहीं न कहीं मुख्य कथा के साथ तादात्म्य है। इस काव्य ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसका नायक कोई राजा या विशिष्ट व्यक्ति न होकर एक साधारण व्यक्ति है।

इस कृति की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश मानी जाती है। राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भाषा को 'पुरानी हिंदी' कहा है। इसमें लोकभाषा के शब्दों का भी समावेश है। धनपाल ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जिससे इस कृति की भाषा और शैली में कसाव आ गया है।

ढोला मारू रा दूहा

'ढोला मारू रा दूहा' लोक भाषा में रचित श्रृंगारपरक काव्य है। ग्यारहवीं शताब्दी के इस श्रृंगारपरक चरित काव्य में सत्रहवीं सदी में कुशलराय वाचक ने कुछ और अंश जोड़कर इसे विस्तारित किया। इस काव्य में श्रृंगार के विरह पक्ष की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

बोध प्रश्न-5

(क) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर एक-दो शब्दों में दीजिए।

(i) विद्यापति की पदावली किस प्रकार की रचना है?

.....

(ii) अमीर खुसरों का वास्तविक नाम क्या था?

.....

(iii) खड़ी बोली हिंदी का प्रथम कवि किसे माना जाता है?

.....

(iv) आदिकालीन किस लौकिक कृति का नायक राजा या विशिष्ट व्यक्ति न होकर एक साधारण व्यक्ति है?

.....

(v) कृष्णभक्ति काव्य की रचना करने वाला हिंदी का प्रारंभिक कवि कौन हैं?

.....

(ख) आदिकालीन विविध लौकिक काव्यों का उल्लेख पाँच पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 सारांश

इस इकाई में आपने आदिकालीन काव्य की प्रमुख कोटियों – सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य, चारण कवियों द्वारा रचित साहित्य तथा लौकिक साहित्य के विषय में पढ़ा। सिद्ध, नाथ तथा जैन कवियों द्वारा रचित साहित्य धार्मिक साहित्य की कोटि में आता है। लौकिक साहित्य के अंतर्गत अमीर खुसरो तथा विद्यापति की रचनाएँ आती हैं। अमीर खुसरो की रचनाएँ हास्य और विनोद प्रधान हैं तथा विद्यापति का काव्य श्रृंगारी काव्य है। साथ ही आप इन प्रवृत्तियों की विशेषताओं और महत्व को भी जान चुके हैं।

2.5 उपयोगी पुस्तकें

- *हिंदी साहित्य का इतिहास* – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
- *हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास* – हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- *हिंदी साहित्य का आदिकाल* – हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
- *हिंदी साहित्य का इतिहास* – सं. डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस; दरियागंज, नई दिल्ली

2.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

(क) (i) सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है।

(ii) यह कथन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का है।

(iii) 'पा' सम्मानसूचक शब्द है। यह 'पाद' का विकृत रूप है।

(iv) नाथ संप्रदाय मे 'नाथ' शब्द का अर्थ 'मुक्ति देने वाला' है।

(v) आचार्य गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ थे।

(ख) देखिए – भाग 2.3.2

बोध प्रश्न-2

(क) (i) चरित काव्यों

(ii) योगीन्दु मुनि

(iii) राम, कृष्ण

(iv) 845

(ख) देखिए – भाग 2.3.3

बोध प्रश्न-3

(क) (i) दलपति विजय

(ii) नल्हसिंह भाट

(iii) चंदवरदाई

(iv) शार्ङ्गधर

(ख) देखिए – भाग 2.3.4

बोध प्रश्न-4

(क) (i) × (ii) ✓ (iii) ✓ (iv) × (v) ✓

(ख) देखिए – भाग 2.3.4

बोध प्रश्न-5

(क) (i) शृंगारिक तथा भक्तिपरक

(ii) अबुल हसन

(iii) अमीर खुसरो

(iv) भविसयत्त कहा

(v) विद्यापति

(ख) देखिए – भाग 2.3.5

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 भक्ति आंदोलन : परिस्थितियाँ और सामान्य विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भक्तिकाल : अर्थ और स्वरूप

3.3 भक्ति आंदोलन का उदय

3.4 भक्ति आंदोलन : विविध परिस्थितियाँ

- 3.4.1 राजनीतिक परिस्थिति
- 3.4.2 सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति
- 3.4.3 धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परिस्थिति
- 3.4.4 साहित्यिक परिस्थिति

3.5 भक्तिकाव्य की सामान्य विशेषताएँ

- 3.5.1 ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम
- 3.5.2 समानता का भाव
- 3.5.3 गुरु महिमा और नाम स्मरण
- 3.5.4 शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता
- 3.5.5 अहंकार का त्याग और लोक जीवन से जुड़ाव
- 3.5.6 भाषा

3.6 सारांश

3.7 उपयोगी पुस्तकें

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम के अंतर्गत आप हिंदी साहित्य के इतिहास और विकास का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। यह इस पाठ्यक्रम की तीसरी इकाई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भक्तिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे;
- भक्ति आंदोलन के उदय संबंधी विभिन्न दृष्टिकोण के बारे में बता सकेंगे;
- भक्तिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकेंगे और
- भक्तिकालीन साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव का आकलन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के इतिहास में 14वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी के मध्य तक (आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 1318 ई. से 1643 ई.) के समय को 'भक्तिकाल' के नाम से जाना जाता है क्योंकि इस दौरान मुख्य रूप से भक्ति विषयक काव्य रचे गए। सवा तीन सौ साल की लंबी यात्रा में इस भक्तिकाव्य के अनेक रूप देखने को मिलती है और सबसे बड़ी बात यह कि इस दौरान लगभग पूरे भारत के साहित्य में भक्ति की चेतना केंद्रीय चेतना रही। भक्तिकाव्य की निर्मिति की लंबी परंपरा रही है और इस युग में जो भक्तिकाव्य रचा गया उसकी विशिष्ट धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। तत्कालीन परिस्थितियों ने भी इस काव्य-सृजन में उत्प्रेरक का काम किया। इस इकाई में इन्हीं मुद्दों पर चर्चा की जा रही है।

3.2 भक्तिकाल : अर्थ और स्वरूप

हिंदी साहित्य में भक्तिकाल का आरंभ 14वीं शताब्दी से माना जाता है। भक्तिकाव्य से तात्पर्य उस काव्य से है जिसमें ईश्वर के प्रति प्रेम, अनुराग और समर्पण की अभिव्यक्ति कविता की केंद्रीय प्रवृत्ति बनी। भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'सेवा करना'। 'भक्ति' में इस सेवा भाव के नौ रूप – (1) श्रवण (2) कीर्तन (3) स्मरण (4) पादसेवन (5) अर्चना (6) वंदना (7) दास्य (8) सख्य और (9) आत्म निवेदन – हैं। इसे 'नवधा भक्ति' भी कहा गया है। यद्यपि भक्ति काव्य में 'नवधा भक्ति' के विभिन्न तत्वों की अभिव्यक्ति हुई है लेकिन भक्तिकाव्य इतने तक ही सीमित नहीं था। यह प्रेम और समर्पण भाव के साथ ही समाज सुधार आंदोलन भी था। भक्ति आंदोलन में कई स्वर थे तथा विभिन्न स्तरों पर इसमें कर्मकांड, जाति व्यवस्था, सामंती जीवन तथा सत्ता की जनविमुखता का प्रतिरोध किया गया। कबीर जाति-पाँति का विरोध करते हैं तो तुलसी रामराज्य के रूप में बेहतर समाज तथा राजा-प्रजा संबंध की अवधारणा पेश करते हैं। जायसी और सूर अपने-अपने तरीके से प्रेम की सर्वोच्चता स्थापित करते हैं। मीरां सामंती तथा पुरूषवादी सत्ता व्यवस्था का प्रतिरोध करती हैं।

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की शुरूआत 14वीं शताब्दी से मानी जाती है, लेकिन दक्षिण भारत में इसकी शुरूआत छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी। दक्षिण भारत में भक्ति साहित्य की रचना आलवार तथा नयनार संतों ने की। ये क्रमशः विष्णु तथा शिव के भक्त थे।

आलवार तथा नयनार संतों ने जिस भक्ति की नींव डाली थी उसमें वर्ण, जाति, ऊँच-नीच आदि का भेदभाव नहीं था। शंकराचार्य (788 ई. - 820 ई.) के पदार्पण के बाद इस आंदोलन को चुनौती मिली। शंकराचार्य ने एक ओर वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया, दूसरी ओर उनके 'अद्वैतवाद' में ब्रह्म और जीव के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। जो भेद नजर आता है वह 'माया' के कारण है। उन्होंने शूद्र को ज्ञान का अधिकार नहीं दिया।

रामानुजाचार्य (1017 ई. - 1127 ई.) ने शंकराचार्य की भेदभावपूर्ण मान्यताओं का विरोध किया। इन्होंने भक्ति का सबको समान अधिकार दिया। इन्हीं की शिष्य परंपरा में रामानंद हुए। रामानंद (1368 ई. - 1468 ई.) ने जाति प्रथा तथा छुआ-छूत का विरोध किया तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में नीची समझी जाने वाली जातियों से भी अपने शिष्य बनाए। कबीर, रैदास, सेना आदि इनके शिष्य थे। वल्लभाचार्य की कृष्णभक्ति में भी जाति-पाँति से परे सबको स्थान दिया गया। भक्ति आंदोलन एक अखिल भारतीय साहित्यिक आंदोलन था

और सभी भारतीय भाषाओं में इस दौरान भक्ति साहित्य की रचना हुई। महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम; पंजाब में नानकदेव तथा बंगाल में चंडीदास हुए।

3.3 भक्ति आंदोलन का उदय

हिंदी साहित्य में भक्ति आंदोलन के उदय पर सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने विचार किया। इस काव्य आंदोलन के कारणों को तलाशते हुए उन्होंने दो स्थापनाएँ दी हैं। एक, भक्ति आंदोलन को उन्होंने अचानक पैदा होने वाला आंदोलन माना। उनके अनुसार, ''बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव के कारण को निश्चित नहीं कर सकता।'' दूसरा, भक्ति आंदोलन को उन्होंने ईसाई-प्रभाव से जोड़ा। उनका मानना था कि रामानुजाचार्य को नेस्टोरियन ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास का संदेश मिला। ग्रियर्सन के अनुसार, ''... भक्ति के सभी शास्त्रीय ग्रंथ ईसाई सन् के बहुत बाद लिखे गए हैं और उनमें प्रतिपादित भक्ति तत्व मद्रास प्रांत में आकर बस गए नेस्टोरियन संप्रदाय के ईसाइयों से लिया गया है।'' ग्रियर्सन के उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि उन्हें भारतीय परंपरा का कोई ज्ञान नहीं था और वे तत्कालीन भारतीय समाज को समझने में असफल रहे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन के उदय को भारत में मुस्लिम राज्य-व्यवस्था की स्थापना से जोड़ा। उनके अनुसार, ''... जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''

भक्ति आंदोलन के उदय से संबंधित इन स्थापनाओं को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नहीं स्वीकारा। भक्ति आंदोलन के अचानक उभरने तथा ईसाई मत से प्रभावित होने संबंधी ग्रियर्सन की मान्यताओं का खंडन करते हुए उन्होंने लिखा, "... जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना' लिखा है वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखंड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर-ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोकप्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना था। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।'' दरअसल, भक्ति का प्रारंभिक उत्थान जिस संत मत में हुआ उसमें मुख्य जोड़ सामाजिक समता पर था। सामाजिक समता की आकांक्षा लोक आकांक्षा थी। जब रामानंद आदि ने ऊँच-नीच, जाति-पाँति तथा धर्म आदि के आधार पर भक्ति के क्षेत्र में भेद-भाव को अस्वीकारा तो भक्ति आंदोलन का व्यापक जनता के साथ तादात्म्य स्थापित हो गया। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने भी जाति-पाँति के आधार पर भेद-भाव को प्रश्रय नहीं दिया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी की मान्यता से भी असहमति जताई है। उनके अनुसार, ''मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।'' भक्ति के उत्थान के संदर्भ में द्विवेदी जी के प्रतिवाद का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि समूचे भक्तिकाव्य में मुसलमानों के विरूद्ध कोई सांप्रदायिक अभिव्यक्ति नहीं है। अतः द्विवेदी जी की यह स्थापना यथोचित ही है कि ''... अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'' द्विवेदी जी ने भक्तिकाव्य को

'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' कहा है। पूर्व में यही चिंता नाथों-सिद्धों में व्यक्त हो चुकी थी। रामानुज, नामदेव, रामानंद, वल्लभाचार्य आदि के द्वारा इसी परंपरा का आगे विकास हुआ। आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आंदोलन के दक्षिण भारत से उत्तर की ओर आने का संकेत किया है। इस तथ्य का उल्लेख शुक्ल जी ने भी किया है, ''भक्ति आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई।'' शुक्ल जी ने संत मत के उत्थान में सिद्धो और योगियों की भूमिका को भी रेखांकित किया है, ''आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार के वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा ...।'' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भक्ति आंदोलन के उत्थान के संदर्भ में द्विवेदी जी का शुक्ल जी से मूल मतभेद मुस्लिम आक्रमण और राज-स्थापना को भक्ति आंदोलन के मुख्य कारण के रूप में देखने को लेकर है। इस संदर्भ में द्विवेदी जी की मान्यता ज्यादा तर्कपूर्ण है। द्विवेदी जी के अनुसार, ''जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।''

प्रसिद्ध इतिहासकार सतीशचंद्र ने भक्ति आंदोलन के उभार में मुस्लिम प्रभाव को एक नए दृष्टिकोण से देखा है। उनके अनुसार, ''... उत्तर भारत में राजपूत-ब्राह्मण समझौता विगत पाँच सदियों तक प्रभावशाली रहा और यही समझौता कर्मकांड समर्थित वर्णाश्रम धर्म पर आधारित सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था।'' उनका मानना है, ''तुर्कों द्वारा राज्यों के विजय और इस्लाम के आगमन ने ऐसी प्रभावशाली शक्तियों को बढ़ावा दिया, जिसने परवर्ती सदियों में लोकप्रिय आंदोलन के रूप में भक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया ...।'' डॉ. रामविलास शर्मा भक्ति आंदोलन के उत्थान में व्यापार के विकास और इसके फलस्वरूप सामंती सामाजिक संरचना के टूटने को प्रमुख कारण मानते हैं। उनके अनुसार, ''गुप्तकाल व्यापारिक समृद्धि का काल है, कबीर और सूर का युग भी ऐसी समृद्धि का काल है। तमिलनाडु में जब आलवार संतों ने भक्तिकाव्य रचा, तब वहाँ भी व्यापारिक समृद्धि का काल था। व्यापार की प्रगति से सामाजिक संबंध शिथिल होते हैं। सामाजिक संबंधों की शिथिलता से भक्ति साहित्य का सीधा संबंध है।'' रामविलास शर्मा का मानना है कि ''सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का।'' सामंती व्यवस्था में आई टूटन से पुरोहितों का वर्चस्व टूटा तथा भक्ति आंदोलन के अनुकूल स्थिति बनी।

अतः कहा जा सकता है कि भक्ति आंदोलन का उत्थान किसी एक कारण के फलस्वरूप नहीं हुआ। इसके विकास और प्रसार में तत्कालीन समय की विविध परिस्थितियों की समन्वित भूमिका रही है।

बोध प्रश्न-1

(क) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर एक-दो शब्दों में दीजिए।

(i) अद्वैतवाद के संस्थापक कौन थे ?

.....

(ii) आलवार भक्त किसके उपासक थे ?

.....

(iii) चंडीदास किस भाषा के भक्त कवि थे ?

.....

(iv) भक्ति आंदोलन को नेस्टोरियन संप्रदाय के ईसाइयों से किसने जोड़ा ?

.....

(v) भक्ति आंदोलन को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' किसने कहा ?

.....

(ख) भक्ति आंदोलन के उदय के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त मतों का उल्लेख कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 भक्ति आंदोलन : विविध परिस्थितियाँ

किसी भी समय की परिस्थितियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। चाहे व्यक्ति कोई भी कार्य कर रहा हो उस कार्य पर उस समय की स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्यकार किसी रचना में अपनी कल्पना का मिश्रण अवश्य करता है किंतु तत्कालीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप उसके लेखन में देखने को मिलती हैं। परिस्थिति चाहे राजनीतिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या साहित्यिक या सांस्कृतिक, उन सभी की छाया साहित्य पर पड़ती हैं। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में जो कि भक्तिकाव्य का भी दौर है, में बाहरी आक्रमणों के कारण उत्तर भारत में हलचल मची। तुर्कों द्वारा यहाँ राज्य-स्थापना के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन का दौर आया। आइए, एक-एक कर परिस्थितियों का विश्लेषण करें और यह समझने का प्रयास करें कि भक्तिकालीन परिस्थितियों का क्या स्वरूप था?

3.4.1 राजनीतिक परिस्थिति

भक्ति आंदोलन मुख्य रूप से सामाजिक आंदोलन था। इस दौरान सभी भक्त कवियों ने

सामाजिक रूढ़ियों का खंडन किया तथा नए आदर्शों की स्थापना की। राजनीतिक रूप से इस दौरान भारत पर मुस्लिमों का शासन स्थापित हुआ।

मोहम्मद गजनवी तथा मोहम्मद गोरी – दोनों में से किसी को जनता के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यह बात गौर करने की है। मोहम्मद गोरी भी भारत से वापस लौट गया तथा उसने कुतुबुद्दीन ऐबक को राजसत्ता सौंप दी जो उसका गुलाम था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने पहली बार गैर राजपूतों की सेना गठित की। जिस समय ये मुस्लिम आक्रमण हो रहे थे उस समय भारत के शासक आपसी झगड़े में लगे हुए थे और मुस्लिम आक्रमणकारियों को उन्होंने आक्रमण में सहायता की। जयचंद इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। इन मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मुख्य रूप से भारतीय समाज पर काबिज राजपूतों और ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ा। इसके परिणामस्वरूप समाज के उपेक्षित वर्ग जिसमें परंपरागत व्यवस्था में चौथे पायदान पर खड़े लोग शामिल थे, ने अपनी आवाज को भक्ति साहित्य के माध्यम से जनता की भाषा में जनता तक पहुँचाया। भक्ति आंदोलन वस्तुतः जनता के आंदोलन के रूप में मुखर हुआ।

कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा स्थापित दिल्ली सल्तनत के शासक व्यवस्थित शासक थे जिन्होंने यहाँ की अंदरूनी व्यवस्था को नहीं छेड़ा तथा जनता से अपना संपर्क स्थापित किया। ये मुस्लिम शासक थे जिन्हें हिंदू जनता पर शासन करना था अतः इन शासकों ने सबको साथ लेकर चलने की नीति बनाई। हालाँकि कुछ शासकों में अतिवादी तत्व था, लेकिन राजनीतिक-सामरिक संघर्ष से इतर दिल्ली सल्तनत के शासकों ने व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया।

इस दौर का एक और तथ्य ध्यान देने योग्य है। बिहार और बंगाल में शासन स्थापित करने वाले बख्तियार खिलजी ने बौद्ध और ब्राह्मण वर्चस्व वाली संस्थाओं को ध्वस्त किया। इससे एक शून्यता पैदा हुई। भक्ति आंदोलन ने इस खाली स्थान को भरा और जन समुदाय से निकले हुए तथाकथित निम्न जाति के संतों और भक्तों ने जनता के साथ मिलकर उनकी भावना को आवाज दी। इससे एक नए तरह का आंदोलन और साहित्य खड़ा हुआ।

3.4.2 सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति

भक्तिकाल का समाज सामंती समाज था। सुख-सुविधा राजा और सामंतों तक केंद्रित था। आम जनता बदहाली की दशा में गुजर-बसर कर रही थी। समाज में जाति और धर्म का बहुस्तरीय बँटवारा था। जाति व्यवस्था के मानदंड अत्यंत कठोर थे। इस संदर्भ में इतिहासकार अलबरूनी ने लिखा है, ''ये (हिंदू) किसी को अपनी जाति बदलने नहीं देते थे। जो अपनी जाति का उल्लंघन करता उसे सदैव रोक दिया जाता।''

भारत में केंद्रीय मुस्लिम शासन व्यवस्था की स्थापना के बाद इन स्थितियों में परिवर्तन आया। समाज में ब्राह्मण और राजपूत वर्चस्व के कमजोर पड़ने के कारण जाति और वर्णगत वर्जनाएँ ढीली पड़ीं। तत्कालीन आर्थिक गतिविधियों ने इसे नई दिशा दी। केंद्रीय शासन के स्थापित होने के बाद निर्माण और दस्तकारी के कार्य में वृद्धि हुई। इस कारण से निर्माण कार्य में लगी विभिन्न जातियाँ जिनकी परंपरागत भारतीय सामाजिक संरचना में अब तक उपेक्षा की गई थी, की स्थिति मजबूत हुई। इन्हीं के बीच से भक्ति आंदोलन का नेतृत्व करने वाले प्रारंभिक संत निकले।

जाति-पाँति की वर्जनाओं को चुनौती देना भक्तिकाल का केंद्रीय रूझान था। जाति-मुक्ति का दबाव उस पूरे दौर में इस कदर व्याप्त था कि वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करने वाले

तुलसीदास ने भी 'कवितावली' में जाति व्यवस्था से खिन्नता प्रकट की :

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति।
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोक परलोकु रघुनाथही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।।

जाति-पाँति के भेद-भाव का कबीर ने निरंतर प्रतिकार किया है। वे जन्मना जाति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते तथा व्यक्ति के ज्ञान को महत्व देते हैं :

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहने दो म्यान।।

तत्कालीन समाज में धर्म के आधार पर भी वैमनस्य की स्थिति थी। विभिन्न धार्मिक समुदाय खुद को श्रेष्ठ मानते थे तथा दूसरे को हेय दृष्टि से देखते थे, इस कारण उनमें टकराहट की स्थिति बनी रहती थी। कबीर ने तत्कालीन समाज में प्रभुत्वशाली दोनों धार्मिक समुदाय के दंभ की खिल्ली उड़ाई है तथा ज्ञान के मामले में उन्हें कोरा बताया है :

हिंदू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना
आपस मैं दोऊ लड़े मरतु है मरम न कोई जाना।

भक्तिकाल के दौर में आर्थिक स्तर पर कामगार जातियों के लिए सकारात्मकता की स्थिति बनी तो उसी दौर में कई अवसरों पर आमलोगों को दुर्दिन का भी सामना करना पड़ा। ऐसे अवसरों में जनता के लिए जिस विकल्पहीनता की स्थिति बनी भक्तिकाल में उसकी भी अभिव्यक्ति की गई है। 'कवितावली' में आम लोगों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए तुलसीदास ने लिखा है :

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर कों चाकरी।
जीविका विहिन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी'

भक्तिकाल की सामाजिक पृष्ठभूमि मध्यकालीन सामंती मूल्यों से परिचालित था। उस समय की आर्थिक गतिविधियों से बनी नई परिस्थिति में इन मूल्यों को चुनौती मिली। व्यापक भू-भाग तथा लंबे समय (सवा तीन सौ वर्ष) में फैला यह आंदोलन विविध सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के बीच विकसित हुआ। कबीर काशी में थे। काशी हिंदू धर्म का केंद्र रहा है। वहाँ धर्म के प्रश्न से जूझना ज्यादा महत्वपूर्ण था जबकि सूरदास आदि मथुरा केंद्रित थे। वहाँ के सामाजिक-आर्थिक जीवन में गो-पालन की केंद्रीय भूमिका थी जिसके कारण वहाँ सामूहिकता की संस्कृति विकसित हुई। निर्गुण संत कबीर जाति धर्म के मुद्दे पर बहस कर रहे थे तो सूरदास आदि कृष्णभक्त कवि सामूहिकता की शक्ति के साथ सामंती मूल्यों का प्रतिकार कर रहे थे। जायसी समाज में स्त्रियों की दशा का चित्रण रत्नसेन की पत्नी नागमती के विरह वर्णन के माध्यम से करते हैं। इन सामाजिक-आर्थिक विविधताओं के बीच भक्ति आंदोलन आगे बढ़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाल के दौरान जो भक्तिकाव्य निर्मित हुआ उसमें ईश्वर से भक्त का सीधा तादात्म्य स्थापित हुआ। इस कारण भक्ति में मध्यस्थों (ब्राह्मणों) की भूमिका पर प्रश्नचिह्न लगा और इस बात को तरजीह दी गई कि भक्ति के क्षेत्र में सब समान

हैं। इससे समाज में फैली सामाजिक और आर्थिक असमानता को भी चुनौती मिली जो उपर्युक्त भक्त कवियों के उद्‌गार से स्पष्ट है।

3.4.3 धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परिस्थिति

धार्मिक दृष्टि से भक्तिकाल परिवर्तन का काल था। भक्तिकाल के प्रारंभिक दिनों में वैदिक धर्म का क्षीण रूप मिलता है। वैदिक देवताओं– इंद्र, वरूण, रुद्र आदि की जगह अब विष्णु और शक्ति के विभिन्न रूपों की पूजा होने लगी थी। धार्मिक कर्मकांड को बढ़ावा मिला। पुरोहित वर्ग अंधविश्वास का लाभ उठा कर जनता का शोषण कर रहे थे। भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के साथ सामंतों का प्रभाव घटने लगा। पुरोहितों के अधिकार का खात्मा भी होने लगा। दक्षिण से शुरू की गई भक्ति की लहर उत्तर की ओर आ रही थी। निम्न वर्गों से आए संतों साधुओं ने भक्ति की इस लहर को अपनाया और उसे फैलाया। इस्लाम की बंधुत्व भावना ने भी भक्ति को बढ़ाने में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार रूढ़ियुक्त धर्म के स्थान पर सरल-साधारण धर्म की शुरूआत हुई। बाहरी कार्य-व्यापार के स्थान पर हृदय पक्ष को महत्व दिया गया।

धार्मिक क्षेत्र में इस काल में एक और बड़ा परिवर्तन आया। धीरे-धीरे विभिन्न देवी-देवताओं के स्थान पर एक ब्रह्म की पूजा की भावना बढ़ने लगी। निर्गुण उपासक संत हों या सगुण उपासक भक्त, सभी ने एक ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण और राम की पूजा का प्रचलन तो प्रमुख हो चला था, किंतु सभी उन्हें एक ही शक्ति के अवतार के रूप में मानते थे।

तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति के बीच भक्ति आंदोलन की विभिन्न धाराओं के विकास के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''निर्गुण भावापन्न योगप्रधान भावधारा के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ा और वह निर्गुण के रूप में प्रकट हुआ। प्रेम लीला-प्रधान सगुण भावधारा के क्षेत्र में वह श्रीकृष्ण अवतार को केंद्र करके अपूर्व प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुआ और स्मार्तभावप्रधान पौराणिक विश्वासों के क्षेत्र में उसने राम-अवतार को केंद्र करके अत्यंत विशाल रूप में आत्मप्रकाश किया। इस प्रकार यह भक्ति का अंकुर तीन रूपों में विकसित हुआ।'' इन तीन रूपों के अतिरिक्त चौथा रूप सूफी मत का है जिसमें इस्लाम की एक धारा भारतीय दर्शन से घुल-मिलकर विकसित हुई।

तत्कालीन उपदेशकों ने संप्रदायों की स्थापना की, किंतु उनका उद्‌देश्य नया वर्ग बनाना नहीं था। वे समाज को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। सिख संप्रदाय के संस्थापक गुरु नानक ने लोगों में एकता स्थापित करने के लिए सिख पंथ की स्थापना की। सभी संतों की वाणियों को उन्होंने समान रूप से महत्व दिया। एक नया धर्म इस्लाम का आगमन हो चुका था। नानक ने धार्मिक भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था – राम और रहीम एक हैं और हम सब उसके बंदे हैं। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना का विकास होने लगा था। सूफी संप्रदाय के आगमन से हिंदू और मुसलमान, दोनों और करीब आने लगे। प्रेम भावना और लोकतत्व ने इस संप्रदाय को जनता में लोकप्रिय बना दिया। केवल संतों और फकीरों ने ही नहीं बल्कि तत्कालीन कई शासकों ने धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना को बढ़ावा दिया। कई मुगल सम्राटों ने धार्मिक एकता की बातें कहीं। मुगल सम्राट अकबर ने तो एक ऐसे धर्म की कल्पना की थी जिसमें सभी धर्मों का निचोड़ समाहित हो। धार्मिक गुरुओं की सभा करके वह उनके विचार को ध्यान से सुनता और मनन करता। अपने धार्मिक विश्लेषण के आधार पर उसने 'दीन-ए-इलाही' धर्म का प्रवर्तन किया था। पूर्व से चली आ रही धार्मिक कट्टरता के कारण लोगों ने उसकी प्रगतिशील भावना को समझने में भूल

की। 'दीन-ए-इलाही' का प्रचार न हो पाया। धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन के इस दौर में कई सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा गया। आगे की चर्चा में हम देखेंगे कि किस प्रकार भक्ति आंदोलन ने सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा।

प्रारंभिक रूप में भक्ति आंदोलन के दार्शनिक दृष्टिकोण के निर्माण में रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, माध्वाचार्य और निम्बकाचार्य जैसे वैष्णव आचार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इन आचार्यों ने शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' आधारित 'अद्वैतवाद' का विरोध किया तथा ब्रह्म और जीव के संबंध पर अपना-अपना मत दिया। इन मतों के साथ उस समय की 'भक्ति' के परिवेश को तत्युगीन अन्य दार्शनिक प्रभावों ने भी प्रभावित किया। अष्टछाप कवियों की कृष्णभक्ति शाखा वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'शुद्धाद्वैत' से सीधे संबंधित है, पर संतकाव्य, रामभक्ति धारा तथा सूफी मत की दार्शनिक पृष्ठभूमि एकाधिक स्रोतों से प्रभाव ग्रहण कर निर्मित हुई है।

शंकराचार्य (788 – 820 ई.) के 'अद्वैतवाद' में संशोधन करते हुए आचार्य रामानुजाचार्य (1017 – 1127 ई.) ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' मत का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं तथा भक्तों पर अनुग्रह के लिए रूप धारण करते हैं। इन्हीं की परंपरा में रामानंद हुए। कबीर आदि कई संत कवि इनके शिष्य थे। इसके बावजूद संत कवियों ने अन्य स्रोतों से भी दार्शनिक प्रभाव ग्रहण किया तथा अपना स्वतंत्र विकास किया। तुलसीदास पर भी रामानंद की विचारधारा का प्रभाव था।

निम्बकाचार्य के 'द्वैताद्वैतवाद' में जीव और ब्रह्म के बीच अंश और अंशी का संबंध बताया गया है। मुक्ति के लिए भक्ति को आवश्यक बताया गया है। इस मत में राधा-कृष्ण के युगल रूप की प्रतिष्ठा है। इस परिकल्पना ने मधुरा भक्ति के विकास में योगदान दिया।

वल्लभाचार्य के 'शुद्धाद्वैतवाद' अथवा 'पुष्टिमार्ग' में ब्रह्म को माया से अलिप्त और शुद्ध रूप बतलाया गया है। जीव ब्रह्म का ही अविकृत रूप है। जीव के तीन प्रकार हैं – 'प्रवाह जीव' (मोह माया रत), 'मर्यादा जीव' (सामाजिक मर्यादा और निषेध को मानने वाले) तथा 'पुष्टि जीव' (जिस पर ईश्वर का अनुग्रह है)। इस मत का मुख्य जोर ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति अर्थात 'पुष्टि' पर है। इस पुष्टि की प्राप्ति ईश्वर की लीला में रत रहकर की जा सकती है। कृष्णभक्ति काव्यधारा के सूरदास आदि अष्टछाप के कवि इसी राह का अनुसरण करते हैं। मध्वाचार्य के 'द्वैतवाद' में ब्रह्म और जीव में भेद किया गया है। इस मत में जगत को भी सत्य बताया गया है।

ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि कबीर आदि संतों ने विभिन्न स्रोतों से दार्शनिक प्रभाव ग्रहण किया। कबीर तथा अन्य संतों ने अपने गुरू से राम नाम का मंत्र लिया, लेकिन अवतारवाद को नहीं स्वीकारा। इस बिंदु पर इनकी समानता नाथ पंथ से है। नाथों ने इसी तरह शिव को ईश्वर माना है पर वहाँ भी शिव निर्गुण हैं। दरअसल संत कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण सिद्धों और नाथों से सर्वाधिक प्रभावित है। कर्मकांड और बाह्याचार का विरोध सिद्धों-नाथों में भी है तथा संतो ंके यहाँ भी। संतों की साधना पद्धति नाथों से प्रभावित है। इसी प्रकार स्त्री के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नाथों और संतों – दोनों में है। ऐसा माना जाता है कि संतों का अद्वैतवाद उपनिषदों के अद्वैतवाद से प्रभावित है तथा इनके यहाँ जो दाम्पत्य का रूपक है वह सूफीमत से प्रभावित है।

रामभक्ति शाखा में खासकर तुलसी मूल रूप से अवतारवाद को मानने वाले सगुण भक्त कवि हैं, लेकिन उन्होंने निर्गुण से भी विरोध नहीं जतलाया है। अपनी भक्ति और दार्शनिकता में वे समन्वयवादी हैं।

सूफीमत पर अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है। भक्तिकाल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित संस्कृति के विकास का काल था। तुर्कों के आगमन से भारत की राजनीति में परिवर्तन आया। मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में कई प्रकार के जातिगत समुदाय आते रहें। भारतीय संस्कृति पर उन जातियों का प्रभाव पड़ा। इससे एक मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इस्लाम धर्मावलंबियों के आगमन से फिर एक बार सांस्कृतिक हलचल पैदा हुई। लोगों के रहन-सहन, मनोरंजन के साधन, शिक्षा, साहित्य, स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला में भी परिवर्तन आया। इस समय दो संस्कृतियों के एक साथ आने से दो बातें हुईं एक, टकराव, जिसका जिक्र ऊपर हम कर चुके हैं कि किस प्रकार कबीर ने इस टकराहट पर दोनों धर्मों के लोगों को फटकार लगाई है। दूसरा जो कि ज्यादा महत्वपूर्ण परिघटना है कि दो भिन्न संस्कृतियों के आपसी मेल-जोल से इस दौर में समन्वित संस्कृति का विकास हुआ। सूफियों ने भारतीय परंपरा से अद्वैत के दर्शन तथा भारतीय लोक कथाओं को अपनाया तो संत कवियों ने सूफियों के प्रेम तत्व को लिया। स्वयं भारतीय समाज के अंदर भी समन्वय का प्रयास हो रहा था। भक्तिकाल के ज्ञानमार्गी संत कवियों ने सिद्धों, नाथों, वैष्णव संतो के विभिन्न तत्वों का समन्वय अपनी साधना पद्धति में किया। इसी तरह तुलसीदास ने भी सगुण-निर्गुण आदि के समन्वय का प्रयास किया। सूरदास के यहाँ देवत्व का मनुष्य के साथ समन्वय है। गोकुल में कृष्ण विशिष्ट होने के बावजूद सामान्य हैं। गोप-गोपियों के साथ उनका कोई भेद-भाव नहीं है। अतः कह सकते हैं कि सामाजिक-धार्मिक भेद-भाव, रंजिश आदि की उपस्थितियों के बावजूद भक्तिकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का मुख्य तत्व समन्वय है। इस काल की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धि यह है कि इसमें लोक और ईश्वर के बीच सीधा संपर्क स्थापित करने की बात की गई और ईश्वर की आराधना के लिए लोक भाषाओं को संप्रेषण का माध्यम बनाया गया। अभिजन की भाषा संस्कृत, जिस पर कुछ मुट्ठी भर ब्राह्मणों का वर्चस्व और आधिपत्य था, के स्थान पर लोक भाषाओं को प्रतिष्ठा मिली और इस प्रकार एक लोक संस्कृति का विकास हुआ।

3.4.4 साहित्यिक परिस्थिति

किसी भी दौर के साहित्य की निर्मिति में तत्कालीन समय तथा समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थात साहित्य को पढ़कर हम तत्कालीन समाज के स्वरूप को जान सकते हैं। लोगों के आचार-विचार का अनुमान लगा सकते हैं या यूँ कहिए कि साहित्य के द्वारा समाज का स्पष्ट रूप हमारे सामने व्यक्त हो जाता है। साहित्यकार अपने सामने जो देखता है उसका वर्णन करता है। यद्यपि कल्पना का समावेश उसकी रचनाओं में जरूर होता है किंतु उसके साथ तत्कालीन सत्य भी जुड़ा रहता है।

आदिकाल का हिंदी साहित्य मुख्य रूप से राज दरबारों में रचा गया था। यही कारण था कि तत्कालीन सामंती अभिरूचि के अनुसार आदिकालीन साहित्य में मुख्य रूप से राजप्रशस्ति, युद्धों का वर्णन तथा श्रृंगार का समावेश है। यद्यपि 'संदेश रासक', 'ढोला मारु रा दूहा' जैसी कुछ लोकगाथापरक रचनाएँ भी हुईं पर इनकी संख्या बहुत कम है।

भक्तिकाल में साहित्य की प्रवृत्ति बदल गई। इस युग में जितनी भी साहित्यिक रचनाएँ हुईं वह ईश्वर भक्ति और सामाजिक समस्याओं से जुड़ी हैं। भक्त कवि किसी साहित्यिक यश के लिए काव्य रचनाएँ नहीं करते थे, उनके हृदय से निकले उद्‌गार ही काव्य बन गए। छठी शताब्दी में आरंभ की गई दक्षिण के आलवार संतों की वाणियाँ एक अन्तःस्रोत धारा के रूप में बहती हुई 12वीं-13वीं शती में आकर उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में प्रवाहित होने लगी। कबीर, सूर, जायसी, मीरां, रहीम, नानक आदि जितने भी भक्त कवि हुए सबने अनमोल वचनों

द्वारा हिंदी साहित्य के भंडार को अक्षय बनाया। तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक बुराइयाँ भक्ति साहित्य के उदय का कारण बनी। भक्ति साहित्य में सभी प्रकार की बुराइयों और अंधविश्वासों का पर्दाफाश किया गया।

तत्कालीन समय में साहित्य के क्षेत्र में जो एक और महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह था – अनुवाद। 'रामायण' और 'महाभारत' आदि ग्रंथों का अनुवाद हुआ। बदायूँनी ने फारसी में इन दोनों ग्रंथों का अनुवाद किया। तत्कालीन बादशाहों में भी साहित्य-प्रेम था। मुगल वंश का संस्थापक बाबर स्वयं एक अच्छा कवि था। हुमायूँ को साहित्य से प्रेम था। उसकी बहन गुलबदन ने 'हुमायूँनामा' की रचना की थी। शासक वर्ग के कारण, फारसी साहित्य की उन्नति हुई। इतिहास ग्रंथों में मुल्ला दाऊद की 'तारीखे अल्फी', 'तबकाते-अकबरी', फैजी 'सरहिंदी' का 'अकबरनामा' प्रसिद्ध है। गणित ग्रंथ 'लीलावती' का अनुवाद कवि फैजी ने किया, 'शाहजहाँनामा' ग्रंथ लिखे गए। औरंगजेब के समय 'आलमगीरनामा', 'मआसिरे आलमगिरी', 'फत्हात आलमगिरी' आदि ग्रंथ रचे गए।

हिंदी के भक्त कवियों ने अधिकतर भक्ति संबंधी रचनाएँ की। कबीर की रचनाओं का संग्रह बहुत बाद में हुआ। जायसी ने 'पद्मावत', सूरदास ने 'सूरसागर', नंददास ने 'रासपंचाध्यायी', तुलसीदास ने 'रामचरितमानस', 'गीतावली' तथा 'कवितावली' की रचना की। अकबर के दरबार के अब्दुर्रहीम खानखाना, टोडरमल तथा बीरबल हिंदी के अच्छे कवि थे। भक्तिकाल में ही केशवदास जैसे आचार्य हुए, इन्होंने 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'अलंकार मंजरी' आदि ग्रंथों की रचना की। तत्कालीन कवि समाज जनता से जुड़े हुए थे। वे किसी साहित्यिक कीर्ति हासिल करने के उद्देश्य से नहीं लिख रहे थे बल्कि अपनी बात को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक था कि वे जनता की भाषा का प्रयोग करें। प्रायः सभी कवियों ने जनता की भाषा में ही अपनी बात कही। कबीर तो घूम-घूम कर उपदेश देते थे, इसलिए जगह-जगह के शब्दों का प्रयोग किया। सूर आदि ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। मीरां की भाषा में भी कई जगहों के शब्दों का मिश्रण हो गया है। सूफी कवि जायसी ने अवधी भाषा का प्रयोग किया। तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों का प्रयोग किया। तुलसी ने अवधी का परिमार्जित और परिष्कृत रूप प्रयोग किया। नंददास और अन्य कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा के सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत रूप का प्रयोग किया।

भक्तिकाल में काव्य रूपों की विविधता देखने को मिलती है। इसमें प्रबंध-काव्य, मुक्तक काव्य, सूक्ति काव्य, संगीत काव्य, नाटक, कथा-काव्य, जीवन-चरित्र, गद्य काव्य और उपदेश-काव्य आदि काव्य रूपों का प्रयोग किया गया।

फारसी की मसनवी शैली का प्रयोग भक्तिकाव्य की अपनी निजी विशेषता है। सूफी कवियों ने इस शैली का प्रयोग किया। यहाँ की लोक कथाओं को प्रबंध का आधार बनाया, इरानी और भारतीय शैलियों का मिश्रित रूप सूफी काव्य की विशेषता है। परियों का चित्रण इरानी प्रभाव के कारण ही हो पाया। इस प्रकार भक्तिकाल की साहित्यिक परिस्थिति और स्वरूप में परिवर्तन होता रहा तथा विषय-वस्तु, भाषा-शैली तथा काव्य रूपों – इन सभी में बदलाव आया।

भक्तिकाल में लोक भाषाओं को साहित्यिक दर्जा प्रदान करने में भक्त कवियों की प्रमुख भूमिका रही। ब्रज और अवधी में तो रचना हो ही रही थी कबीर जैसे संत कवि जिस सधुक्कड़ी भाषा में अपनी भावनाएँ व्यक्त कर रहे थे वह बाद में चलकर खड़ी बोली की अंतर्धारा बनी। इस प्रकार आधुनिक हिंदी (खड़ी बोली हिंदी) की पूर्वपीठिका भी इसी दौर में

निर्मित हो रही थी। कवि नए बिंब, प्रतीक और उपमान विकसित कर रहे थे जो संस्कृत से बिल्कुल अलग और नवीन था। इस रूप में जन भाषाओं को साहित्यिक ऊर्जा से संपृक्त किया जा रहा था।

बोध प्रश्न-2

(क) निम्नलिखित कथनों में जो सही हैं उनके आगे (✓) का निशान तथा जो गलत हैं उनके आगे (×) का निशाल लगाइए।

(i) 'जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान', यह पंक्ति कबीर की है।

(ii) 'कवितावली' के लेखक वल्लभाचार्य हैं।

(iii) गुरु नानक ने सभी संतों की वाणियों को समान रूप से महत्व दिया।

(iv) 'दीन-ए-इलाही' धर्म का प्रवर्तन अकबर ने किया।

(v) नाथों के शिव सगुण हैं।

(ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक-दो पंक्तियों में दीजिए।

(i) संत कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण सबसे ज्यादा किनसे प्रभावित हैं ?

.....

.....

(ii) 'शुद्धाद्वैतवाद' से हिंदी काव्य का कौन-सा समुदाय संबद्ध है ?

.....

.....

(iii) तुलसी दार्शनिक रूप से किस प्रकार के कवि थे ?

.....

.....

(iv) भक्तिकाल के कवियों ने किस प्रकार की भाषा का उपयोग किया ?

.....

.....

(v) सूफी काव्य की दो प्रमुख निजी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

(ग) भक्तिकाव्य के दार्शनिक पृष्ठभूमि की चर्चा कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(घ) भक्तिकाव्य में तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण किस प्रकार से हुआ है, सोदाहरण बताइए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.5 भक्तिकाव्य की सामान्य विशेषताएँ

भक्तिकाल (14वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी) के दौरान प्रधानतः भक्तिकाव्य की रचना की गई। इस दौरान सूर, तुलसी, मीरां, कबीर, जायसी, रैदास आदि भक्त कवियों ने श्रेष्ठ काव्य का सृजन किया। हालाँकि ये मुख्य रूप से भक्त थे और ईश्वर की आराधना इनका मुख्य ध्येय था पर इस प्रक्रिया में उनके जो उद्‌गार व्यक्त हुए उनकी गणना उत्कृष्ट काव्य के रूप में होती है। इन भक्त कवियों ने ईश्वर की आराधना करने के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली और समाज को देखने का नवीन दृष्टिकोण विकसित किया। उनके विचार और संदेश से तत्कालीन भारतीय समाज प्रभावित और प्रेरित हुआ और आज भी उनकी रचनाएँ प्रासंगिक और प्रेरणास्पद हैं। इन सभी भक्त कवियों ने अपनी भावना विशिष्ट रूप में व्यक्त की परंतु मूल मंतव्य सबका एक ही रहा, वह था – ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम, मनुष्य–मनुष्य के बीच समानता का भाव, गुरु की महिमा, अहंकार का त्याग, लोक से जुड़ाव, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को महत्व।

3.5.1 ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम

भक्तिकाल के कवियों की भक्ति भावना और ईश्वरीय प्रेम समय सापेक्ष था। अपने-अपने नजरिए से इन्होंने अपने देश-काल की अन्यान्य समस्याओं पर विचार किया है। परंतु वे मूलतः भक्त थे। ईश्वर की प्राप्ति इनका मुख्य ध्येय था। संसार में रहते हुए भी ये भक्त कवि उसके प्रति आसक्त नहीं थे तथा इनमें ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम था। प्रेम की यह उत्कटता भक्ति आंदोलन की सभी शाखाओं में समान रूप से मौजूद है।

संत कबीर स्वयं को ईश्वर के रंग में रँगा हुआ महसूस करते हैं :

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।

सूफी काव्य में साधक ईश्वर की प्राप्ति के लिए किसी भी चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। 'पद्मावत' में रत्नसेन (साधक) पद्मावती (ईश्वर) से मिलने के लिए राज-पाट छोड़कर निकल पड़ते हैं। रत्नसेन सिंहल द्वीप पहुँचने पर पद्मावती को देखने की अपनी व्यग्रता व्यक्त करते हुए कहता है कि वह पद्मावती के दर्शन के लिए पर्वत पर सिर के बल जाने को तैयार है :

राजै कहा दरस जौ पावौं। परबत काह, गगन कहै धावौं।।
जेहि परवत पर दरसन लहना। सिर सौं चढौं, पाँव का कहना।।

तुलसीदास राम को अपना सब कुछ मानते हैं तथा वे (तुलसी) उनके (राम) ऊपर छोड़ देते हैं कि वे (राम) चाहे जो रिश्ता रखें। तुलसीदास को तो केवल प्रभु के चरण में शरण चाहिए :

ब्रह्म तू, हैं जीव तू ठाकूर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितू मेरो।।
तोहिं-मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै।।

जायसी (सूफी) में ईश्वर के प्रति उत्कटता हर जोखिम उठाने वाले प्रेमी के रूप में व्यक्त हुई है तो तुलसी के यहाँ दास्य भाव और सख्य भाव के रूप में। कृष्णभक्ति काव्य में यह उत्कटता दास्य भाव के रूप में भी है, खासकर सूरदास आदि के विनय के पदों में :

जैसैं राखहु तैसैं रहौं
जानत हौ दुख सुख सब जन के मुख करि कहा कहौं।
कमल नयन घन स्याम मनोहर अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि तुम्हारे चरण गहौं।।

लेकिन इस प्रेम की उत्कटता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सूरदास तथा मीरां के मधुरा भक्ति वाले पदों में हुई है। सूरदास की गोपियों को जीवन का हर वैभव कृष्ण के बगैर फीका लगता है :

यद्यपि मथुरा बिभव बहुत है तुम बिनु कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रजवासी लौगनि भेंटत हृदय जुड़ाय ।।

मीरां तो कृष्ण की भक्ति में आभिजात्य जीवन का त्याग कर देती हैं। वे कृष्ण को अपना सर्वस्व मानते हुए उनके लिए अपनी विकलता व्यक्त करती हैं :

हे री मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोई।

इस प्रकार इस युग के सभी भक्त कवियों ने ईश्वर से सीधा संबंध स्थापित किया। ईश्वर के प्रति एकनिष्ठ प्रेम इसका मूल आधार है। भक्त कवियों ने अलग-अलग रूप में – निर्गुण और सगुण – ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग निर्धारित किया, परंतु मूल में एक ही भावना थी – ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम। यहाँ प्रेम निःस्वार्थ है और यह आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचकर भक्ति में परिणत हो गया है। यह कह सकते हैं कि यह आध्यात्मिक प्रेम है जहाँ भौतिकता और भौतिक राग-द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है। निश्चित रूप से इस युग में निर्गुण और सगुण का द्वंद्व भी दिखाई पड़ता है, परंतु सभी कवियों ने इस द्वंद्व से मुक्त होते हुए निर्गुण और सगुण ब्रह्म की अराधना की है।

3.5.2 समानता का भाव

भक्ति के मार्ग में सांसारिक भेदभाव का स्थान नहीं है। इस बात को सभी भक्त कवियों ने स्वीकार किया है। भक्तों की साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता अणु-अणु में व्याप्त है। सारी सृष्टि ही ब्रह्ममय है। तब वस्तु, व्यक्ति और समष्टि में भेद ही नहीं है। व्यक्ति समाज की इकाई के रूप में है, एक-एक व्यक्ति के चरित्र से समाज का चरित्र बनता है। भक्तों ने समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम किया। समाज की एकरूपता तभी संभव है जब जाति, वर्ण और वर्ग का भेद न हों। भक्तों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद में अपना विश्वास नहीं रखा। तुलसीदास जो वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखते हैं उन्होंने भी भक्ति के क्षेत्र में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं स्वीकारा। भक्ति साहित्य में धर्म के मतभेद और बाह्य आडंबर– तीर्थ स्थान, वेद-पाठ, छुआछूत, रोजा, नमाज, हिंदू-मुसलमान, मंदिर-मस्जिद, ब्राह्मण-शूद्र, शिया-सुन्नी आदि विभेदों का कड़ा विरोध किया गया। भक्तों ने समाज-व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखंड, रीति-रिवाज और मिथ्या आडंबर आदि के विरूद्ध जनता को जागृत किया। समाज में समानता लाना उनका उद्देश्य था।

भक्तिकाल में जाति के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता और निम्नता आधारित थी। भक्तों ने इसका कड़ा विरोध किया। कबीर जोरदार शब्दों में कहते हैं– 'तू बामन मैं काशी का जुलाहा बूझो मोर ग्यान'। भक्ति आंदोलन का मूल मंत्र था :

जाति-पाँति पूछै न कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।।

भक्तों ने एक ऐसे मानव-धर्म या विश्व-धर्म का प्रचार किया जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। तुलसीदास संसार के समस्त जीव को राममय मानते हुए सबको आदर-सम्मान देने की बात करते हैं :

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि।।

भक्तिकाव्य में उपासना के क्षेत्र में जाति-धर्म के भेद-भाव को तो अस्वीकार किया ही गया है, उसमें सामाजिक-आर्थिक जीवन के ऊँच-नीच के अंतर को पाटने की भी परिकल्पना की गई है। तुलसीदास जिस रामराज्य की परिकल्पना करते हैं उसमें विद्वेष और विषमता के लिए कोई जगह नहीं है :

रामराज्य बैठे त्रयलोका। हरषित भये गये सब शोका।।
वयरू न कर काहू सज कोई। रामप्रताप विषमता खोई।।

कबीर सामाजिक विषमता पर चोट करते हैं। तुलसी 'रामराज्य' के रूप में एक समतापरक समाज की अवधारणा पेश करते हैं तो सूरदास गोकुल के रूप में तत्कालीन समय में मौजूद एक ऐसे समाज को महत्व देते हैं जहाँ जाति-पाँति, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं है। इस समाज की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि (पूरे भक्ति साहित्य में) यह एकमात्र समाज है जहाँ स्त्री और पुरुष के बीच समानता का भाव विद्यमान है।

सूफी काव्य में यह समानता मूल्य के स्तर पर व्यक्त किया गया है। वहाँ प्रेम को सर्वाधिक महत्व दिया गया है :

मानुष पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं तो व्याह छार एक मूठी।

प्रेम को सर्वाधिक महत्व देना प्रकारांतर से सामंती भेद-भावपरक मूल्य व्यवस्था की अस्वीकृति है। दरअसल पूरे भक्तिकाव्य में विभिन्न संदर्भों में समता के भाव की अभिव्यक्ति की गई है। इस मामले में भक्तिकाव्य की हर शाखा एक दूसरे का पूरक है।

3.5.3 गुरु महिमा और नाम स्मरण

सभी भक्त कवियों ने गुरु की महिमा को एक साथ स्वीकारा है। वैदिक काल से चली आ रही परंपरा के अनुसार ही चाहे बौद्ध साधक हों या जैन साधक, नाथपंथी हों या सिद्ध साधक – सभी ने गुरु की महिमा का गान किया है। गुरु राह दिखाने वाला है। उसके बिना साधना सफल नहीं हो सकती। संत कवियों ने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्व दिया, क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने का राह बताने वाला गुरु ही है। कबीर कहते हैं :

गुरु गोविंद दोऊ खड़े का के लागूँ पाई।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताई।।

अर्थात गुरु और गोविंद दोनों भक्त के सामने खड़े हैं, अब भक्त के लिए यह तय करना कठिन हो गया है कि किसे पहले नमस्कार करे। किंतु भक्त की उलझन को भगवान तुरंत गुरु की ओर इशारा करके सुलझा देते हैं। गुरु की महिमा यहीं प्रकट हो जाती है।

संत कवियों ने गुरु की महिमा को बहुत ऊँचा माना है, किंतु सगुण उपासक भक्त कवियों ने समान रूप से ईश्वर और गुरु की महिमा स्वीकार की है। भक्त तुलसीदास अपने आराध्य का गुणगान करने से पहले गुरु की वंदना करते हैं :

बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।

सूफी संप्रदाय में भी गुरु की महिमा का वर्णन है। वहाँ गुरु ही राह दिखाने वाला है। 'पद्मावत' की रचना करने वाले सूफी कवि जायसी ने कथा में सुआ को गुरु के रूप में पेश किया है। सुआ राजा रत्नसेन को पद्मावती के रूप सौंदर्य से परिचित कराता है। सूफी कथा काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता है– प्रतीकात्मकता। 'पद्मावत' में रत्नसेन आत्मा, पद्मावती परमात्मा और सुआ गुरु का प्रतीक हैं। इस प्रकार संपूर्ण भक्ति साहित्य में गुरु के महत्व को स्वीकारा गया है।

भक्त कवियों ने ईश्वर के नाम स्मरण को सर्वोपरि माना है। उनके अनुसार राम का स्मरण राम की भक्ति से भी बढ़कर है। नवधा भक्ति में कीर्तन, कथा-श्रवण के साथ नाम-स्मरण भी साधना का एक रूप है। भक्तों ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रेम और नाम-स्मरण को अति आवश्यक माना है। कबीर कहते हैं– 'राम नाम ततसार है'। वे स्पष्ट कहते हैं :

कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल

बस राम नाम के स्मरण से ही सब काम बन जाएगा। और सारे उपाय व्यर्थ के जंजाल हैं। तुलसीदास 'रामचरितमानस' में यह विचार व्यक्त करते हैं कि कलियुग में राम नाम का जाप ही सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति दिलाएगा। नानक, रैदास आदि सभी भक्त कवियों ने नाम स्मरण पर जोर दिया है।

3.5.4 शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता

भक्त कवियों ने भक्ति में शास्त्रज्ञान और पांडित्य की आवश्यकता से इनकार किया है। उनके अनुसार शास्त्रज्ञान और पांडित्य भक्ति की राह में रोड़ा ही अटकाते हैं। कबीर स्पष्ट घोषणा करते हैं :

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई।
ढाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होई।।

भक्ति के लिए किसी को शास्त्रज्ञान प्राप्त कर पंडित बनने की जरूरत नहीं। निर्मल मन से प्रेम करने पर ही ईश्वर प्राप्त हो जाते हैं। भक्त तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि सच्चे मन से भक्ति की जानी चाहिए, उसकी कृपा से ही सब कुछ मिल जाएगा। उसकी कृपा होगी तो असमर्थ व्यक्ति भी समर्थ हो जाएगा। ईश्वर भक्ति ही मुख्य है न कि शास्त्रीय ज्ञान। 'रामचरितमानस' में कवि कहता है :

मूक होई बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवऊ सकल कलि मल दहन।।

अर्थात उसकी कृपा से गूँगा बोलने लगता है और लंगड़ा दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है। उसकी कृपा से ही कलिकाल में सब कष्ट दूर हो जाएँगे।

सूरदास ने तो उद्धव संदेश में उद्धव के शास्त्रज्ञान का खंडन साधारण बालाओं से करवाया है। उद्धव को अपने शास्त्रज्ञान का बड़ा गर्व था। कृष्ण और अन्य लोगों को शास्त्रज्ञान का उपदेश देकर साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताते फिरते थे। उन्हें घमंड था कि उनके समान ज्ञानी कोई नहीं, वे ज्ञान द्वारा ईश्वर को प्राप्त करेंगे। अंतर्यामी कृष्ण ने सोचा क्यों न इसके ज्ञान का खंडन सामान्य बालाओं से ही कराया जाए। उनके द्वारा ही शास्त्रज्ञान का खंडन हो तो उद्धव को अपनी भूल महसूस होगी। कृष्ण ने उद्धव को कहा जरा अपने ज्ञान की बातें ग्वाल बालाओं तक तो पहुँचा दो। उद्धव अकड़ कर ब्रज गए। किंतु उन ग्वाल बालाओं के सहज प्रश्नों के सामने उद्धव निरूत्तर हो गए। गोपियों ने कहा :

निर्गुण कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रसै में अभिलासी।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सौ सूर सबै मति नासी।।

गोपियों के तर्कपूर्ण प्रश्नों का उत्तर उद्धव नहीं दे पाए। उन्हें भी शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता का भान हो गया।

3.5.5 अहंकार का त्याग और लोक जीवन से जुड़ाव

भक्त कवियों ने समान रूप से इस बात की घोषणा की है कि भक्त को अहंकार का त्याग करना चाहिए। सूरदास के पदों में बार-बार यह कहा गया है कि हमारा आराध्य सब सामर्थ्य रखने वाला है। भक्त अपने अराध्य के सामने गौण है। कबीरदास कहते हैं :

कबीर कूता राम का, मुतियाँ मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाऊँ।।

मेरे गले में राम नाम का पट्टा बँधा हुआ है। मेरा राम जिधर खींचता है मैं उधर ही खींचा चला जाता हूँ। तुलसीदास कहते हैं राम से बड़ा कौन है और मेरे से छोटा कौन? राम सभी दृष्टि से खरा हैं और मुझमें तो खोट ही खोट भरा हुआ है। संत रैदास अपने प्रभु को चंदन कहते हैं और स्वयं को पानी। यह अहंकार को त्यागने का रूप ही प्रस्तुत करता है। नानक, मीरां – सभी ने अहंकार त्यागने की बात कही है। सभी भक्तों के अनुसार उनका आराध्य सर्वशक्तिमान है उनके सामने भक्त की क्या हस्ती।

भक्त कवियों की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने अपने को लोक जीवन से जोड़ा। वे न तो किसी बादशाह के दरबारी कवि थे और न ही किसी राजा का गुणगान करने के लिए ही काव्य रचना करते थे। सभी कवि जन-जीवन से जुड़े हुए थे। कई कवि किसी न किसी पेशे से जुड़े हुए थे। कबीर कपड़ा बुनने का कार्य करते थे तो रैदास जूतियाँ बनाने का कार्य करते थे। भक्त कवियों के लिए सर्वशक्तिमान ईश्वर ही राजा थे। तुलसीदास ने तो यह भी लिखा कि जो कवि राजा-महाराजा का गुणगान करता है उसकी कविता पर सरस्वती सिर धुन कर पछताती हैं। इस प्रकार कवियों ने अपने को राजाओं की प्रशस्ति से बिल्कुल दूर रखा। उनका संपर्क जनता से था। वे जनता तक अपनी बात पहुँचाना चाहते थे। तुलसी ने अपने को रघुवीर का नौकर बताते हुए सत्ता के लाभ-लोभ-अहंकार से खुद को दूर रखा :

हौं चाकर रघुवीर को पटौ लिख्यो दरबार
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार

भक्त कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। नाथपंथियों की भाँति योगी नहीं थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में जीवनगत अनुभव का समावेश हो पाया। भक्तों ने व्यक्तिगत साधना की बात नहीं कही। उन्होंने समाज से उसे जोड़ा। जहाँ वे आत्मशुद्धि की बात करते हैं, वहाँ भी वे सामाजिकता को नहीं भूलते। भक्तों ने समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यक्ति के पवित्र जीवन पर अधिक महत्व दिया। कबीर आदि भक्त कवियों ने जहाँ समाज में आई बुराइयों को दूर करने के लिए लोक जीवन से ही उदाहरण लिए वहीं तुलसी और सूर ने तो परिवार और उसके प्रत्येक सदस्य के लिए आदर्श आचरण की बातें कहीं। माता-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी का रिश्ता कैसा होना चाहिए उसे स्पष्ट किया। दूसरी ओर सूर, कृष्ण के बाल रूप का मनोवैज्ञानिक वर्णन करते हैं। बालक के वात्सल्य रूप का वर्णन उनके लोक जीवन से जुड़े रहने का ही परिणाम है।

3.5.6 भाषा

भक्त कवियों ने सामान्य जनता में प्रचलित लोक भाषाओं का प्रयोग किया। वे अपनी बात को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। कबीर की भाषा पर स्थान-स्थान की बोलियों का स्पष्ट प्रभाव है। इसलिए विद्वानों ने उसे सधुक्कड़ी भाषा की संज्ञा दी है। भक्त कवियों ने ब्रज और अवधी भाषा का मुख्य रूप से प्रयोग किया है। कुछ भक्त कवियों ने संस्कृतनिष्ठ भाषा का

भी प्रयोग किया। रामोपासक कवियों में तुलसीदास की भाषा परिष्कृत और संस्कृतनिष्ठ है। विषय के अनुरूप ढालकर कवियों ने भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का समावेश किया। आवश्यकतानुसार अभिधा, व्यंजना और लक्षणा – तीनों शब्द शक्तियों का प्रयोग किया।

भक्त कवियों ने प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ की। एक ओर जायसी और तुलसीदास ने क्रमशः 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' जैसे प्रबंध ग्रंथों की रचना की तो दूसरी ओर ईश्वरीय लीलाएँ संबंधी 'गीतावली', 'कवितावली' जैसी मुक्तक रचनाएँ भी हुईं। चूँकि प्रबंध ग्रंथों की रचना करना अधिकांश भक्त कवियों का उद्देश्य नहीं था, अतः भक्ति काव्य का अधिकांश भाग मुक्तक ही है। कवियों ने दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय, सोरठा आदि छंदों का प्रयोग किया। विभिन्न राग-रागनियों पर आधारित गेय पद जनता के कंठहार बन गए। उपमा, सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कर भाषा सौष्ठव को बढ़ाया गया। शृंगार और शांत रस का प्रयोग भक्तिकाव्य में अधिक हुआ है। इस प्रकार संपूर्ण भक्ति साहित्य लोक जीवन और समाज से जुड़ा हुआ है।

बोध प्रश्न-3

(क) भक्ति साहित्य में शास्त्रज्ञान को किस रूप में देखा गया है, इस विषय पर अपना मत व्यक्त कीजिए। (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(ख) भक्तिकाव्य में ईश्वर के प्रति भक्तों ने अपने प्रेम की अभिव्यक्ति किन रूपों में की है ? (उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 सारांश

- हिंदी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि भिन्न-भिन्न समयावधि में विषय वस्तु, भाषा शैली आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हुईं। चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिपूर्ण रचनाओं की प्रमुखता पाई जाती है।
- भक्तिकाल का आगमन अचानक नहीं हुआ था। एक लंबी परंपरा के प्रतिफलन के रूप में इसका प्रारंभ और विकास हुआ।
- किसी कालावधि को भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। भक्ति साहित्य के निर्माण में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका है।
- यद्यपि भक्ति साहित्य में कई धाराएँ सक्रिय थीं, उन सभी की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ थीं पर साथ ही उनमें कुछ सामान्य विशेषताएँ भी थीं। यथा – ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम, समानता का भाव, शास्त्र ज्ञान की अनावश्यकता तथा गुरू के प्रति असीम श्रद्धा।
- अहंकार का त्याग तथा लोक-जीवन से जुड़ाव भी भक्तिकाव्य की महत्वपूर्ण विशेषता थीं।

3.7 उपयोगी पुस्तकें

हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

हिंदी साहित्य की भूमिका – हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य – शिव कुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद / नई दिल्ली

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

(क) (i) शंकराचार्य

(ii) विष्णु के

(iii) बंगला

(iv) ग्रियर्सन

(v) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ख) देखें – भाग 3.3

बोध प्रश्न-2

(क) (i) – ✓

(ii) – ×

(iii) – ✓

(iv) – ✓

(v) – ×

(ख) (i) संत कवियों के दार्शनिक दृष्टिकोण नाथों और सिद्धों से सर्वाधिक प्रभावित हैं।

(ii) 'शुद्धाद्वैतवाद' से हिंदी की कृष्णभक्ति काव्यधारा के सूरदास आदि अष्टछाप के कवि संबद्ध हैं।

(iii) तुलसी दार्शनिक रूप से समन्वयवादी कवि थे।

(iv) भक्तिकाल के कवियों ने जनता की भाषा का प्रयोग किया।

(v) सूफीकाव्य की दो प्रमुख निजी विशेषताएँ हैं – एक, फारसी की मसनवी शैली का प्रयोग और दूसरा, भारतीय लोकथाओं को अपने प्रबंध का आधार बनाना।

(ग) देखें – भाग 3.4.3

(घ) देखें – भाग 3.4.2

बोध प्रश्न-3

(क) देखें – भाग 3.5.4

(ख) देखें – भाग 3.5.1